

हनुमानप्रसाद पोद्दार



'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।'

(तैत्तिरीय उप० १।११।१)

'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।' (तैत्ति० उप० १।११।२)

सं० १९९२ प्रथम संस्करण ३२५०
सं० १९९३ द्वितीय संस्करण ५०००

मूल्य ।=) छः आना

मुद्रक तथा प्रकाशक–घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीहरिः

प्रार्थना

उपनिषद् हमारी वह अमूल्य निधि है, जिसमें संरक्षित विविध ज्ञानविज्ञानमयी अचिन्त्य रत्नराशिकी निर्मल सच्चिदानन्दमयी ज्योतिका एक कण प्राप्त करनेके लिये समस्त संसारके तत्त्वज्ञ श्रद्धापूर्वक सिर झुकाये और हाथ पसारे खड़े हैं। उपनिषदोंमें उस कल्याणमय ज्ञानका अखण्ड और अनन्त प्रकाश है जो घोर क्लेशमयी और अन्धकारमयी भवाटवीमें भ्रमते हुए जीवको सहसा उससे निकालकर नित्य निर्बाध ज्योतिर्मयी और पूर्णानन्दमयी ब्रह्मसत्तामें पहुँचा देता है। आनन्दकी बात है कि आज उन्हीं उपनिषदोंसे चुनी हुई कुछ कथाएँ पाठकोंको भेंट की जा रही हैं। लगभग दस वर्ष पूर्व बम्बईमें 'उपनिषदोनी वातो' नामक एक गुजराती पुस्तक देखी थी, तभी हिन्दीमें भी वैसी ही कथाएँ लिखनेका मन हुआ था। और उसी समय कुछ कथाएँ लिखी गयी थीं। उनमेंसे कुछ तो बिल्कुल गुजरातीकी शैलीपर ही थी और कुछ अन्य प्रकारसे। वे ही कथाएँ अब पाठकोंको पुस्तकरूपमें मिल रही हैं। इसके लिये गुजराती पुस्तकके लेखक और प्रकाशक महोदयका मैं हृदयसे कृतज्ञ हूँ। इस छोटी-सी पुस्तकसे हिन्दीके पाठकोंने यदि लाभ उठाया तो सम्भव है आगे चलकर उपनिषदोंकी ऐसी ही चुनी हुई अन्यान्य कथाओंके प्रकाशनकी भी चेष्टा की जाय। भूलचूकके लिये विद्वान् पाठक क्षमा करें और कृपापूर्वक सूचना दे दें। जिससे यदि नया संस्करण हो तो उस समय उचित सुधार कर दिया जाय। आशा है पाठक इस प्रार्थनापर ध्यान देंगे।

विनीत

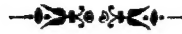
हनुमानप्रसाद पोद्दार



ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः ! शान्तिः !!
शान्तिः !!! (तैत्तिरीय उप० २ । १ । १)

श्रीहरिः

विषय-सूची





श्रीहरिः

चित्र-सूची







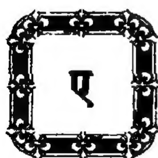
उमा और इन्द्र

श्रीहरिः

उपनिषदोंके चौदह रत्न

(१)

ब्रह्म ही विजयी है



क समय स्वर्गके देवताओंने परमात्माके प्रतापसे असुरोंपर विजय प्राप्त की । इस विजयसे लोगोंमें देवताओंकी पूजा होने लगी । देवोंकी कीर्ति और महिमा सब तरफ छा गयी । विजयोन्मत्त देवता भगवान्को भूलकर कहने लगे कि हमारी ही जय हुई है । हमने अपने पराक्रम

और बुद्धिबलसे दैत्योंका दलन किया है, इसीलिये लोग हमारी पूजा करते हैं और हमारे विजयगीत गाते हैं। मद अंधा बना देता है, देवता भी विजयमदमें अंधे होकर इस बातको भूल गये कि कोई सर्वशक्तिमान् ईश्वर है और उसीके बल और प्रभावसे सब कुछ होता है। उसकी सत्ता बिना पेड़का एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

भगवान् बड़े दयालु हैं। उन्होंने देखा कि देवतागण मिथ्या अभिमानमें मत्त होकर मुझे भूलने लगे हैं, यदि इनके यह अभिमान दृढ़ हो गया तो असुरोंकी भाँति इनका भी सर्वनाश हो जायगा। विजय प्राप्त करनेपर जहाँ सत् पुरुषोंमें नम्रता आती है वहाँ इनमें अभिमान बढ़ रहा है। यों विचारकर देवताओंके अभिमान-का नाशकर उनका उपकार करनेके लिये परमात्मा ब्रह्मने अपनी लीलासे एक ऐसा अद्भुत कौतूहलप्रद रूप प्रकट किया जिसे देखकर देवताओंकी बुद्धि चक्कर खा गयी। देवता घबराये और उन्होंने इस यक्षसदृश रूपधारी अद्भुत पुरुषका पता लगानेके लिये अपने अगुआ अग्निदेवसे कहा कि 'हे जातवेदस् * ! हम सबमें आप सर्वापेक्षा अधिक तेजस्वी हैं, आप इनका पता लगाइये कि ये यक्षरूप वास्तवमें कौन हैं?' अग्निने कहा 'ठीक है, मैं पता लगाकर आता हूँ।' यों कहकर अग्नि वहाँ गये, परन्तु उसके समीप पहुँचते ही तेजसे ऐसे चकरा गये कि बोलनेतकका साहस नहीं हुआ। अन्तमें उस यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा कि

* जातवेदसका अर्थ धनका दाता या उत्पन्न हुए समस्त पदार्थोंका ज्ञाता होता है।

'तू कौन है ?' अग्निने कहा—'मेरा नाम प्रसिद्ध है, मुझे अग्नि कहते हैं और जातवेदस् भी कहते हैं।' ब्रह्मने फिर पूछा—'यह सब तो ठीक है; परन्तु हे अग्नि ! तुझमें किस प्रकारका सामर्थ्य है, तू क्या कर सकता है ?' अग्निने कहा—'हे यक्ष ! इस पृथिवी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम पदार्थ हैं उन सबको मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ।'

ब्रह्मने सोचा कि इसका अहङ्कार बातोंसे नहीं दूर होगा, इसको कुछ चमत्कार दिखलाना चाहिये। यों सोचकर ब्रह्मने उसमेंसे अपनी शक्ति खींच ली और '**तस्मै तृणं निदधौ**'—उसके सामने एक सूखे घासका तिनका डालकर कहा कि 'और सबको जलानेकी बात तो पीछे देखी जायगी, पहले '**एतद्दह**'—इस तृणको तू जला !'

अग्निदेवता अपने पूरे वेगसे तृणके निकट गये और उसे जलानेके लिये सर्व प्रकारसे यत्न करने लगे, परन्तु तृणको नहीं जला सके। लज्जासे उनका मस्तक नीचा हो गया और अन्तमें यक्षसे बिना कुछ कहे ही अग्निदेवता अपना-सा मुँह लिये देवताओं-के पास लौट आये और कहा कि 'मैं तो इस बातका पता नहीं लगा सका कि यह यक्ष कौन है ?'

इसके बाद देवताओंने वायुसे कहा कि 'हे वायो ! तुम जाकर पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' वायुदेव 'बहुत अच्छा' कहकर यक्षके पास गये; परन्तु उनकी भी अग्निकी-सी दशा हो गयी, वे बोल नहीं सके—

यक्षने पूछा, 'तू कौन है ?' वायुने कहा—'मैं वायु हूँ, मेरा नाम और गुण प्रसिद्ध है—मैं गमनक्रिया करनेवाला और पृथ्वीकी गन्धको वहन करनेवाला हूँ। अन्तरिक्षमें गमन करनेवाला होनेके कारण मुझे मातरिश्वा भी कहते हैं।' यक्षने कहा—'तुझमें क्या सामर्थ्य है ?' वायुने कहा—'इस पृथ्वी और अन्तरिक्षमें जो कुछ भी पदार्थ हैं उन सबको मैं ग्रहण कर सकता हूँ (उड़ा सकता हूँ)।' ब्रह्मने वायुके सम्मुख भी वही सूखा तिनका रख दिया और कहा '**एतदादत्स्व**'—इस तिनकेको उड़ा दे।

वायुने अपना सारा बल लगा दिया, परन्तु तिनका हिला भी नहीं। यह देखकर वायुदेव बड़े लज्जित हुए और तुरन्त ही देवताओंके पास आकर उन्होंने कहा—'हे देवगण! पता नहीं, यह यक्ष कौन है; मैं तो कुछ भी नहीं जान सका।'

जब मुनीमोंसे काम नहीं होता तब मालिककी बारी आती है। इसी न्यायसे देवताओंने इन्द्रसे कहा कि 'हे देवराज! अब आप जाइये।' इन्द्र यक्षके समीप गये। देवराजको अभिमानमें भरा हुआ देखकर यक्षरूपी ब्रह्म वहाँसे अन्तर्धान हो गये, इन्द्र-का अभिमान चूर्ण करनेके लिये उनसे बाततक नहीं की। इन्द्र लज्जित तो हो गये, परन्तु उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और ध्यान करने लगे। इतनेमें उन्होंने देखा कि अन्तरिक्षमें अत्यन्त शोभायुक्त और सब प्रकारके उत्तमोत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित हिमवान्की कन्या

भगवती पार्वती उमा खड़ी हैं। पार्वतीके दर्शन कर इन्द्रको हर्ष हुआ और उन्होंने सोचा कि पार्वती नित्य ज्ञानबोधस्वरूप भगवान् शिवके पास रहती हैं, अतएव इन्हें यक्षका पता अवश्य ही मालूम होगा। इन्द्रने विनयभावसे उनसे पूछा—

'माता! अभी जो यक्ष हमें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये वे कौन थे?' उमाने कहा—'वह यक्ष प्रसिद्ध ब्रह्म था। हे इन्द्र! इस ब्रह्मने ही असुरोंको पराजित किया है, तुम लोग तो केवल निमित्तमात्र हो; ब्रह्मके विजयसे ही तुम लोगोंकी महिमा बढ़ी है और इसीसे तुम्हारी पूजा भी होती है। तुम जो अपना विजय और अपनी महिमा मानते हो सो सब तुम्हारा मिथ्या अभिमान है, इसे त्याग करो और यह समझो कि जो कुछ होता है सो केवल उस ब्रह्मकी सत्तासे ही होता है।'

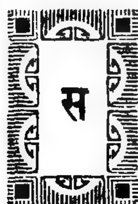
उमाके वचनोंसे इन्द्रकी आँखें खुल गयीं, अभिमान जाता रहा। ब्रह्मकी महान् शक्तिका परिचय पाकर इन्द्र लौटे और उन्होंने अग्नि और वायुको भी ब्रह्मका उपदेश दिया। अग्नि और वायुने भी ब्रह्मको जान लिया। इसीसे ये तीनों देवता सबसे श्रेष्ठ हुए। इनमें भी इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये। कारण, उन्होंने ब्रह्मको सबसे पहले जाना था। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मको सबसे पहले जाननेवाला ही सर्वश्रेष्ठ है।

(केन उपनिषद्के आधारपर)



(२)

अनोखा अतिथि



त्ययुगका पवित्र काल है। देशभरमें यज्ञोंका प्रचार हो रहा है। यज्ञधूमसे और उसकी पवित्र सौरभसे आकाश भरा हुआ है। वेदके वरद मन्त्रोंसे दिशाएँ गूँजती हैं। यज्ञका हवि ग्रहण करनेके लिये स्वर्गसे देवगण पृथिवीपर उतरते हैं। पवित्र और आनन्दमयी वाद्यध्वनिसे समस्त जीव प्रफुल्लित हो रहे हैं। यज्ञकर्ता यज्ञकी



अतिथि नचिकेताकी सेवामें यमराज

पूर्णाहुति होनेपर परम श्रद्धासे ऋत्विक्गणको दक्षिणा बाँटते हैं। आकांक्षारहित होकर सात्त्विक यज्ञकर्ता वेदविधिका पूर्णतया पालन करते हुए समस्त कार्य सम्पादन करते हैं। ऐसे पवित्र युगमें ऋषि वाजश्रवाके सुपुत्र उद्दालक मुनिने विश्वजित् नामक एक यज्ञ किया। इस यज्ञमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। तदनुसार वाज-श्रवस (वाजश्रवाके पुत्र) उद्दालकने भी 'सर्ववेदसं ददौ'—अपना सारा धन ऋषियोंको दे दिया। ऋषि उद्दालकके नचिकेता नामक एक पुत्र था। जिस समय ऋषि ऋत्विज और सदस्योंको दक्षिणा बाँट रहे थे और उसमें अच्छी-बुरी सभी तरहकी गौएँ दी जा रही थीं उस समय बालक नचिकेताके निर्मल अन्तःकरणमें श्रद्धाने प्रवेश किया। नचिकेताने अपने मनमें सोचा—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥

(कठ० १।१।३)

'जो गौएँ (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं, घास खा चुकी हैं और दूध दुहा चुकी हैं; जो शक्तिहीन अर्थात् गर्भ धारण करनेमें असमर्थ हैं, ऐसी गायोंको जो दान करता है वह उन लोकोंको प्राप्त होता है जो आनन्दसे शून्य है।'

यज्ञके बाद गौदान अवश्य होना चाहिये, परन्तु नहीं देने योग्य गौके दानसे दाताका उलटा अमङ्गल होता है। इस प्रकारकी भावनासे सरलहृदय नचिकेताके मनमें बड़ी वेदना हुई और अपना बलिदान देकर पिताका अनिष्ट निवारण करनेके लिये उसने कहा—

तत कस्मै मां दास्यसीति।

'हे पिताजी ! मैं भी आपका धन हूँ, मुझे आप किसको देते हैं ?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया । नचिकेताने फिर कहा— 'पिताजी ! मुझे किसको देते हैं ?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की । धर्मभीरु नचिकेतासे नहीं रहा गया । उसने तीसरी बार फिर वही प्रश्न किया । ऋषि चिढ़ गये और खीझकर कह उठे—'तुम्हें देता हूँ मृत्युको ।'

'मृत्यवे त्वा ददामीति'

पिताके क्रोधभरे वचन सुनकर नचिकेता सोचने लगा कि 'शिष्य और पुत्रोंकी तीन श्रेणियाँ हुआ करती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम । जो गुरुका अभिप्राय समझकर उसकी आज्ञाकी कोई प्रतीक्षा किये बिना ही सेवा करने लगते हैं वे उत्तम हैं । जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं वे मध्यम हैं । और जो गुरुका अभिप्राय समझ लेने और आज्ञा सुन लेनेपर भी गुरुकी इच्छानुसार कार्य नहीं करते वे अधम कहलाते हैं । मैं प्रथम श्रेणीमें चाहे न होऊँ पर दूसरीमें तो अवश्य हूँ; मैं अधम तो कदापि नहीं हूँ । मुझ-सरीखे गुणसम्पन्न पुत्रको पिताजीने, न मालूम, क्यों यमको दे दिया ? मृत्यु-देवताका मुझसे क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? सम्भवतः पिताजीने क्रोधके आवेशमें ही ऐसा कह दिया है; परन्तु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन असत्य नहीं होना चाहिये ।' यों विचारकर उसने यमराजके यहाँ जानेका ही निश्चय कर लिया । धन्य पितृभक्ति और धन्य त्याग !!

पुत्रकी व्यवस्था देख ऋषि एक ओर बैठे पछता रहे थे कि

मैंने क्रोधमें पुत्रसे क्या कह दिया, इतनेहीमें नचिकेताने जाकर पितासे कहा—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
शस्यमिव मर्त्यः पच्यते शस्यमिवाजायते पुनः॥

(कठ० १।१।६)

'हे पिताजी! अपने पूर्वजोंका व्यवहार देखिये, इस समयके साधु पुरुषोंका व्यवहार देखिये। उनके चरित्रोंमें न कभी पहले असत्य था और न अब है। असाधु लोग ही असत्यका आचरण किया करते हैं। परन्तु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। मनुष्य अनाजकी तरह जराजीर्ण होकर मर जाता है और अनाजकी तरह ही कर्मवश पुनः जन्मता है। अतएव इस अनित्य संसारमें मिथ्या आचरणसे क्या प्रयोजन है? आप अपने सत्यका पालनकर मुझे यमराजके पास जानेकी आज्ञा दीजिये।'

पिताको बड़ा दुःख हुआ, परन्तु पुत्रकी सत्यपरायणता देखकर ऋषिने आज्ञा दे दी। नचिकेताने पिताके वचनोंको निभानेके लिये यमसदनकी ओर प्रयाण किया।

यमराजका अतिथि

निर्भीकचित्त नचिकेताने पिताकी आज्ञानुसार यमराजके घरपर आकर पता लगाया तो मालूम हुआ कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं। नचिकेताको तीन रात्रितक अन्नजल ग्रहण किये बिना यमराजकी प्रतीक्षा करनी पड़ी। तीसरे दिन यमराजके लौटनेपर घरके लोगोंने उनसे कहा—

वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताᳫं शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥

(कठ० १ । १ । ७)

'साक्षात् अग्नि ही ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें घरमें प्रवेश करते हैं। साधु गृहस्थ उस अतिथिरूप अग्निके दाहकी शान्तिके लिये उसे जल (पादार्घ्य) दिया करते हैं। अतएव हे वैवस्वत ! आप उस ब्राह्मण बालकके पैर धोनेके लिये जल ले जाइये। अतिथि तीन दिनोंसे आपकी बाट देखता हुआ अनशन लिये बैठा है, अतएव आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे तभी वह शान्त होगा।'

आशाप्रतीक्षे सङ्गतᳫं सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूᳫंश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥

(कठ० १ । १ । ८)

'जिस अल्पबुद्धि पुरुषके घरपर अतिथि ब्राह्मण बिना भोजन किये रहता है उस मन्दबुद्धिकी सारी आशा और प्रतीक्षाएँ—ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंके प्राप्त होनेकी इच्छाएँ, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला फल, उसकी सम्पत्ति, पुत्र, पशु, सत्यभाषण, यज्ञ और सारे पूर्त (कुएँ, तालाब, धर्मशाला आदि बनानेका पुण्य) नष्ट हो जाते हैं।' इस बातको सुनकर यमराज जलसे भरा हुआ स्वर्णकलश लेकर दौड़े और अतिथि नचिकेताको पादार्घ्य देकर आदरपूर्वक कहने लगे—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥

(कठ० १ । १ । ९)

'हे ब्राह्मण ! तुम नमस्कार करने योग्य अतिथि होकर मेरे घर-पर तीन दिनसे बिना कुछ खाये पड़े हो, तुमको नमस्कार है और इससे मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो । मुझसे बड़ा अपराध हुआ है । अतएव तुम प्रत्येक रात्रिके लिये एक-एक वर-के हिसाबसे कुल तीन वर मुझसे माँग लो !'

यमराजके द्वारपर तीन दिनतक अतिथि भूखा पड़ा रहे, कितना बड़ा अपराध ! प्राचीन भारतमें अतिथिसेवा गृहस्थका सबसे आवश्यक कर्म माना जाता था । धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि अतिथिको साक्षात् नारायण मानकर उसकी सेवा करनी चाहिये । जो गृहस्थ अतिथिसेवासे शून्य है, उसके समस्त शुभ कर्मोंको वह भूखा अतिथि ले जाता है । भारतके वैदिक युगमें घरपर आये हुए अतिथि-नारायणकी बड़ी सेवा होती थी । यमराजका यह उदाहरण बड़े ही महत्त्वका है । जिस दिनसे भारतने इस परसेवा-व्रतके बन्धनको ढीला कर दिया, जबसे भारतके गृहस्थ केवल अपने स्त्री-पुत्रोंके भोगविलासकी सामग्रियोंका प्रबन्ध करनेमें ही कर्तव्यकी इतिश्री मानने लगे, जबसे अतिथि-नारायणोंके लिये गृहस्थका द्वार बन्द होने लगा, तभीसे भारतकी दुर्गति आरम्भ हो गयी ! अस्तु, यमराजकी बातको सुनकर 'सदा सन्तुष्ट' नचिकेताने यह सोचकर

कि पिताको सुख पहुँचाना ही पुत्रका सबसे प्रथम कर्तव्य है, यमराजसे यही पहला वर माँगा—

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्
वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत
एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥

(कठ० १ । १ । १०)

'हे मृत्यो ! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ । और जब मैं आपके यहाँसे लौटकर घर जाऊँ तो वे मुझे पहचानकर मुझसे प्रेमसे बातचीत करें ।'

यमराजने 'तथास्तु' कहकर कहा कि 'मेरे द्वारा तुम्हारे वापिस लौट जानेपर तुम्हारे पिता पहलेकी भाँति तुम्हें पहचान लेंगे; मृत्युके मुखसे छूटे हुए तुमको देखकर वे सुखसे सोयेंगे और उनका क्रोध शान्त हो जायगा ।'

पितृभक्त बालककी पहली कामना पूर्ण हुई । नचिकेताने इस प्रकार पिताका सुख सम्पादनकर फिर समस्त जीवोंके मङ्गलके लिये स्वर्गके साधन अग्नितत्त्वको जाननेके लिये यमराजसे कहा— 'हे मृत्यो ! स्वर्गमें कुछ भी भय नहीं है; वहाँ न आप (मृत्यु) हैं, न किसीको बुढ़ापेका भय है; भूख-प्याससे पार होकर और शोक-से तरकर वहाँ पुरुष बड़ा आनन्द भोगता है । अतएव हे मृत्यो ! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं । मुझ श्रद्धावान्‌को आप वह बतलाइये । कारण, उसको जानकर लोग

स्वर्गमें रहकर अमृतत्वको (देवत्वको) प्राप्त होते हैं। यह मैं दूसरा वर माँगता हूँ।'

यमराजने बड़ी तपस्या करके अग्निविद्याको जाना था। वास्तविक अधिकारी बिना इस विद्याको देनेमे दाता और गृहीता दोनोंमेंसे किसीका कल्याण नहीं होता। परन्तु आज नचिकेताको उत्तम जिज्ञासु जानकर अग्नितत्त्वका महत्त्व बतलाते हुए यमराज बोले—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥

(कठ० १।१।१४)

'हे नचिकेता! मैं उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको भलीभाँति जानता हूँ और तुमको बतलाता हूँ, तुम इसको अच्छी तरह सुनो। यह अग्नि अनन्त (स्वर्ग) लोककी प्राप्तिका साधन है, विराट्रूपसे जगत्की प्रतिष्ठाका मूल कारण है। इसे तुम विद्वानोंकी बुद्धिरूप गुहामें स्थित जानो।'

इसके अनन्तर यमराजने नचिकेताको समस्त लोकोंके आदि-कारण उस अग्निकी और उसके लिये जैसी और जितनी ईंटें चाहिये, वे जिस प्रकार रक्खी जानी चाहिये, सो सब बतलाया अर्थात् यज्ञस्थानके निर्माणके लिये आवश्यक सामग्रियों और अग्निचयन करनेकी विधिको बतलाया। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने यमराजकी कही हुई सारी बातोंको दुहराकर अपनी प्रतिभाको सिद्ध कर दिया। यमराजको बालककी अप्रतिम योग्यता देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई

और उन्होंने पहले तीन वरोंके अतिरिक्त एक चौथा यह वर और दिया कि—

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥
(कठ० १ । १ । १६)

'मैंने जिस अग्निकी बात तुमसे कही वह तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी । और तुम इस विचित्र रत्नोंवाली शब्दवती मालाको भी ग्रहण करो ।' नचिकेताका तेजोदीप्त मुखमण्डल प्रसन्नतासे भर गया । यमराज फिर बोले 'जिसने यथार्थरूपसे मातापिता और आचार्यके उपदेशानुसार तीन बार नाचिकेत अग्निकी उपासना कर यज्ञ, वेदाध्ययन और दान किया है वह जन्म और मृत्युको तर जाता है और जब वह भाग्यवान् पुरुष उस अग्निको ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, ज्ञानसम्पन्न पूजनीय देव जानता है तब वह शान्तिको प्राप्त होता है । जो नाचिकेत अग्निके स्वरूप, संख्या और आहुति देनेकी प्रणालीको जानकर उसकी उपासना करता है वह देहपातसे पहले ही मृत्युके पाशको तोड़कर और शोकरहित होकर स्वर्गमें आनन्दको प्राप्त होता है ।'

नाचिकेत अग्निको स्वर्गका साधन बतलाकर और उसकी कुछ और प्रशंसा करके यमराजने नचिकेतासे कहा—**'तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व'**—'हे नचिकेता ! अब तीसरा वर माँगो ।'

अधिकारिपरीक्षा

पिताकी प्रसन्नताका वर इस लोकके लिये और स्वर्गके साधन अग्निका ज्ञान परलोकके लिये वरकर नचिकेता सोचता है कि क्या

स्वर्गसुखमें ही जीवका परम कल्याण है ? स्वर्गसे भी तो पुण्यात्माओंका पुण्य क्षय होनेपर वापिस लौटना सुना जाता है, अतएव अब तीसरे वरसे उस मृत्युतत्त्व या आत्मतत्त्वको जानना चाहिये जिसके जाननेपर और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता। यों सोचकर 'आत्मा परलोकमें जाता है या नहीं, मरनेके बाद आत्माकी क्या गति होती है ?' —इस आत्मज्ञानके जटिल प्रश्नको समझनेके हेतुसे नचिकेताने यमराजसे कहा—'मृत मनुष्यके विषयमें एक संशय है। कोई कहते हैं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके अतिरिक्त देहान्तरसम्बन्धी कोई अन्य आत्मा है। कोई कहते हैं—ऐसा कोई स्वतन्त्र आत्मा नहीं है। प्रत्यक्ष या अनुमानसे इस विषयका कोई निर्णय नहीं हो सकता। आप मृत्युके अधिपति देवता हैं, अतएव मैं यह आत्म-तत्त्व आपसे जानना चाहता हूँ। यही तीसरा वर मैं माँगता हूँ।' नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने सोचा—'ऋषि-कुमार बालक होनेपर भी है बड़ा ही बुद्धिमान्, कैसे गोपनीय तत्त्व-को जानना चाहता है। परन्तु आत्मतत्त्व उपयुक्त पात्रको ही बतलाना उचित है, अनधिकारीके समीप आत्मतत्त्व प्रकट करनेसे हितके स्थानमें प्रायः अनिष्ट ही हुआ करता है। इसलिये पहले पात्र-परीक्षाकी आवश्यकता है।' यों विचारकर यमराजने इस तत्त्व-की कठिनताका बखान करके नचिकेताको टालना चाहा। यमराजने कहा—'देवताओंको भी पहले इस विषयमें सन्देह हुआ था। इस आत्मतत्त्वका समझना कोई आसान बात नहीं, यह

बड़ा ही सूक्ष्म विषय है; अतएव हे नचिकेता! तुम दूसरा वर माँगो, इस वरके लिये मुझे मत रोको।'

नचिकेता विषयकी कठिनताका नाम सुनकर घबराया नहीं, परन्तु और भी अधिक दृढ़तासे कहने लगा—'हे मृत्यो! पूर्वकालमें देवताओंको भी जब इस विषयमें सन्देह हुआ था और जब आप भी कहते हैं कि यह विषय आसान नहीं है, तब मुझे इस विषयका समझानेवाला आपके समान दूसरा वक्ता ढूँढ़नेपर भी कोई नहीं मिल सकता। आप किसी दूसरे वरके लिये कहते हैं; परन्तु मैं समझता हूँ कि इसकी तुलनाका और कोई वर नहीं है, क्योंकि यही कल्याणकी प्राप्तिका हेतु है। अतएव मुझे यही समझाइये!'

किसी विषयको जब नहीं बतलाना होता है तो सबसे पहले उसकी कठिनताका भय दिखलाया जाता है। यमराजने भी परीक्षाके लिये यही किया, परन्तु नचिकेता इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया। अबकी बार यमराजने और भी कठिन परीक्षा लेनी चाही। साधककी परीक्षाके लिये दो ही प्रधान शस्त्र होते हैं—एक 'भय' और दूसरा 'लोभ'। नचिकेता भयसे नहीं डिगा, इसलिये अब यमराजने दूसरे शस्त्र लोभका प्रयोग उसपर किया। यमराजने कहा—

'बालक! तुम क्या करोगे ऐसे वरको लेकर? तुम ग्रहण करो इन सुखकी विशाल सामग्रियोंको'—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥

(कठ० १ । १ । २३)

'सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्र माँगो, गौ आदि बहुत-से पशु, हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलका राज्य माँगो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्ष जीनेकी इच्छा हो उतने ही वर्ष जीते रहो ।' इतना ही नहीं,—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥

(कठ० १ । १ । २४)

'इसीके समान और कोई वर चाहो तो उसे, और प्रचुर धनके साथ दीर्घजीवन माँग लो; अधिक क्या इस विशाल भूमिके तुम सम्राट् बन जाओ । मैं तुम्हें अपनी सारी कामनाओंका इच्छा-नुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ ।' इसके सिवा—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥

(कठ० १ । १ । २५)

'जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपनी इच्छानुसार माँग लो। ये रथोंसमेत और वाद्योंसमेत जो सुन्दर रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंको नहीं मिल सकतीं। मेरे द्वारा दी हुई इन सारी रमणियोंसे तुम अपनी सेवा कराओ; परन्तु, हे नचिकेता! मुझे मरणसम्बन्धी (मृत्युके बाद आत्मा रहता है या नहीं) यह प्रश्न मत पूछो।'

संसारमें ऐसा कौन है जो बिना चाहे इतनी भोगसामग्रियों और उनके भोगनेके लिये दीर्घजीवनव्यापी सामर्थ्य प्राप्त होनेपर भी उन्हें नहीं चाहेगा, सुनते ही लार टपकने लगती है;परन्तु विचार और वैराग्य-की उच्च भूमिकापर पहुँचा हुआ नचिकेता अटल और अचल है, यम-राजके प्रलोभनोंका उसके मनपर कोई असर नहीं हुआ। सत्य है—

रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

'जो बड़भागी रामके प्रेमीजन हैं वे रमाके विलासको (भोगों-को) वमनके समान त्याग देते हैं।' जिसने एक बार विश्वविमोहन मनोहर झाँकीकी अनोखी छटा देख ली, वह फिर विषयोंकी ओर भूलकर भी नहीं झाँकता। नचिकेताने कहा—'हे मृत्यो! आपने जिन भोग्य वस्तुओंका वर्णन किया वे कल-तक रहेंगी या नहीं, इसमें भी सन्देह है। ये मनुष्यकी सारी इन्द्रियोंके तेजको हरण कर लेती हैं। आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्त कालकी तुलनामें बहुत थोड़ा ही है। जब ब्रह्माका जीवन भी अल्प कालका है तब औरोंकी तो बात ही क्या है? अतएव मैं यह सब नहीं चाहता। आपके रथ, घोड़े, हाथी और नाच-गान आपके ही पास रहें।'

'धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता; जहाँ केवल कामनाका ही विस्तार है, वहाँ तृप्ति कैसी ? भोगविलासकी तृष्णामें अभाव और अपूर्णतामें अतृप्ति और आकांक्षाके सिवा और क्या रह सकता है ? अतएव '**वरस्तु मे वरणीयः स एव**'—मुझे तो वही आत्मतत्त्वरूप वर चाहिये ! भला, अजर और अमर देवताओंके समीप आकर नीचेके मृत्युलोकका जरामरणशील कौन ऐसा मनुष्य होगा जो अस्थिर और परिणाममें दुःख देनेवाले विषयोंको चाहेगा ? शरीरके सौन्दर्य और विषयभोगके प्रमादोंको अनित्य और क्षणभङ्गुर समझकर भी कौन ऐसा समझदार होगा जो संसारके दीर्घजीवनसे आनन्द मानेगा ? अतएव, हे मृत्यो ! जिसके विषयमें लोग संशय करते हैं, जो महान् परलोकके विषयमें निर्णयात्मक आत्मतत्त्वविज्ञान है, मुझे वही दीजिये ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥

(कठ० १ । १ । २९)

'यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर गूढ़ होनेपर भी नचिकेता इसके सिवा, दूसरा (अज्ञानी पुरुषोंद्वारा इच्छित) अनित्य वर नहीं चाहता !!'

इस अग्निपरीक्षामें भी नचिकेता उत्तीर्ण हो गया। यमराजने अब नचिकेताको आत्मज्ञानका पूर्ण अधिकारी समझा । वास्तवमें जो इस मायामय जगत्के सारे सुखोंके मनोहर चित्र, धनके प्रलोभन, रमणियोंके रमणीय प्रणय-बन्धन और कमनीय कीर्तिकी कामना आदि सभी पदार्थोंको आत्मज्ञानकी तुलनामें काकविष्ठावत् या जहरके लड्डुओंके समान अत्यन्त हेय और त्याज्य समझता है, जो इस लोक और परलोकके बड़े-से-बड़े भोगोंको तुच्छ समझकर

सबको लात मार सकता है वही आत्मज्ञानका यथार्थ अधिकारी है । परन्तु जो कौड़ी-कौड़ीके लिये जन्म-जन्मान्तरतक वैरभावको आश्रय देनेके लिये तैयार रहते हैं और काम पड़नेपर आत्मज्ञानके सिवा दूसरी बात नहीं करते, वैसे लोग किस अधिकारके प्राणी हैं, इस बातको विज्ञ पाठक स्वयं सोच लें । विषयवैराग्य, साधुसंगति और भजन-साधनके प्रभावसे पहले आत्मज्ञानका अधिकार प्राप्त-कर तदनन्तर उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये नहीं तो उभयभ्रष्ट होनेकी ही अधिक सम्भावना है ।

श्रेय और प्रेय

यमराजने नचिकेताको परम वैराग्यवान्, निर्भीक और उत्तम अधिकारी समझकर परम प्रसन्न होकर कहा कि 'हे नचिकेता ! एक वस्तु श्रेय (कल्याण) है और दूसरी वस्तु प्रेय है (श्रेय मनुष्यके वास्तविक कल्याण मोक्षका नाम है और प्रेय स्त्री-पुत्र, धन-मानादि प्रिय लगनेवाले पदार्थोंका नाम है)। इन दोनोंका भिन्न-भिन्न प्रयोजन है और ये अपने-अपने प्रयोजनमें मनुष्यको बाँधते हैं । इन दोनोंमेंसे जो श्रेयको ग्रहण करता है उसका कल्याण (मोक्ष) होता है और जो प्रेयको चुनता है वह आपातरमणीय धन-मानादि-में फँसकर पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाता है ।'

'श्रेय और प्रेय दोनोंमेंसे मनुष्य चाहे जिसको ग्रहण कर सकता है । बुद्धिमान् पुरुष श्रेय और प्रेय दोनोंके गुण-दोषोंको भलीभाँति समझकर उनका भेद करता है और नीरक्षीरविवेकी हंसकी तरह प्रेयको त्यागकर श्रेयको ग्रहण करता है । परन्तु मूर्ख

लोग 'प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते'—योगक्षेमके लिये यानी प्राप्त स्त्री, पुत्र, धनादिकी रक्षा, और अप्राप्त भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये प्रेयको ही ग्रहण करते हैं। हे नचिकेता !—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपा ँश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैता ँ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥

(कठ० १।२।३)

'तुमने मेरे द्वारा बार-बार प्रलोभन दिखलाये जानेपर भी जो प्रिय स्त्री-पुत्रादि और प्रियरूप अप्सरादि समस्त भोग्य विषयोंको अनित्य समझकर त्याग दिया, इस द्रव्यमयी निकृष्ट गतिको तुम नहीं प्राप्त हुए, जिसमें कि साधारणतः बहुत-से मनुष्य डूबे रहते हैं !'

इस भाषणसे यमराजने नचिकेताके विवेक और वैराग्यकी विशेष प्रशंसा कर वित्तमयी संसारगतिकी निन्दा की और साथ ही विवेक-वैराग्यसम्पन्न मनुष्य ही ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है, यह भी सूचित किया। इसके अनन्तर श्रेय और प्रेयके परस्पर विपरीत फल उत्पन्न करनेके कारणकी मीमांसा करते हुए यमराज कहने लगे—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥

(कठ० १।२।४)

'विद्या और अविद्या ये दोनों प्रसिद्ध हैं, ये दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त विपरीत और भिन्न-भिन्न तरफ ले जानेवाली हैं। हे नचिकेता! मैं तुम्हें विद्याका अभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि तुम्हें बहुत-से भोग भी नहीं लुभा सके।'

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठ० १।२।५)

'अविद्यामें पड़े हुए भी जो लोग अपनेको बड़े बुद्धिमान् और पण्डित मानते हैं वे भोगकी इच्छा करनेवाले मूढजन अन्धेसे चलाये हुए अन्धोंकी तरह चारों ओर ठोकरें खाते भटकते फिरते हैं।'

वास्तवमें आजकल जगत्में ऐसे अनेक मनुष्य हैं जो बिना समझे-बूझे ही अपनेको तत्त्वज्ञानी माने हुए हैं। यदि उनके अन्तःकरणका दृश्य देखा जाय तो उसमें नाना प्रकारकी कामनाओंका ताण्डवनृत्य होता हुआ दिखायी पड़ता है। परन्तु बातों और तर्कोंमें कहींपर ब्रह्मज्ञानमें जरा-सी भी त्रुटि नहीं दीखती। यमराजके कथनानुसार इस प्रकारके मिथ्याज्ञानियोंके लिये मोक्षका द्वार बन्द रहता है और उन्हें पुनः-पुनः आवागमनके चक्रमें ही ठोकरें खानी पड़ती हैं। 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' ऐसा क्यों होता है? यमराज कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

'धनके मोहसे मोहित, प्रमादमें रत रहनेवाले मूर्खको परलोक या कल्याणका मार्ग दीखता ही नहीं।' वह तो केवल—

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ० १ । २ । ६)

'यही मानता है कि स्त्री-पुत्रादि भोगोंसे भरा हुआ एकमात्र यही लोक है, इसके सिवा परलोक कोई नहीं है। इसी मान्यताके कारण उसे बारंबार मेरे (मृत्युके) अधीन होना पड़ता है!'

यमराज फिर बोले कि 'हे नचिकेता! आत्मज्ञान कोई साधारण-सी बात नहीं है। अनेक लोग तो ऐसे हैं जिनको आत्माके सम्बन्धकी बातें सुननेको ही नहीं मिलतीं। बहुत-से लोग सुनकर भी इसे जान नहीं सकते, आत्माका वक्ता भी आश्चर्यरूप कहीं ही कोई मिलता है और इस आत्माको प्राप्त करनेवाला भी कहीं कोई एक निपुण पुरुष ही होता है, इसी प्रकार किसी निपुण आचार्यसे शिक्षाप्राप्त कोई विरला ही आश्चर्यरूप पुरुष आत्माको जाननेवाला होता है।' *

'किसी साधारण मनुष्यके विवेचनसे आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, आत्मज्ञान तभी होता है जब उसका उपदेश किसी अनन्य (अभेददर्शी) समर्थ पुरुषके द्वारा किया जाता है, क्योंकि यह (आत्मा) सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होनेके कारण सर्वथा अतर्क्य है। यह ज्ञान तर्कसे प्राप्त नहीं होता, यह तो किसी अलौकिक ब्रह्मज्ञानीके द्वारा बतलाया जानेपर ही प्राप्त होता है। हे नचिकेता!

* गीता अ० २ । २९ में इसी आशयका श्लोक है।

तुमने ऐसा पुरुष पाया है, वास्तवमें तुम सत्य-धारणासे सम्पन्न हो। तुम जैसा जिज्ञासु मुझे मिलता रहे।'

यों कहकर यमराजने सोचा कि यदि नचिकेताके मनमें कर्मकाण्डके फलोंकी अनित्यताके सम्बन्धमें कुछ भी सन्देह रह गया तो उसका परिणाम शुभ नहीं होगा। अतएव यमराजने कहा—

'हे नचिकेता! मैं जानता हूँ कि धनराशि अनित्य है और अनित्य वस्तुओंसे नित्य वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती। यों जानते हुए भी मैंने अनित्य पदार्थोंसे स्वर्गसुखके साधनभूत नाचिकेत अग्निका चयन किया है। इसीसे मैंने यह आपेक्षिक अर्थात् अन्यान्य पदोंकी अपेक्षा नित्य (अधिककालस्थायी) यमराजका पद पाया है।'

परन्तु, हे वत्स! तुम तो सब प्रकारसे श्रेष्ठ हो, तुमने उस परम पदार्थके सम्मुख जगत्की चरम सीमाके भोग, प्रतिष्ठा, यज्ञ-फलरूपी हिरण्यगर्भका पद, अभयकी मर्यादा (चिरकालस्थायी जीवन), स्तुत्य और महान् ऐश्वर्यको हेय समझकर धैर्यके द्वारा त्याग दिया है। यथार्थमें तुम बड़े गुणसम्पन्न हो।

यद्यपि यह आत्मा—यह नित्य प्रकाशरूप आत्मा जीवरूपसे हृदयमें विराजमान है तथापि सहजमें इसके दर्शन नहीं होते। क्योंकि यह अत्यन्त ही सूक्ष्म है, यह अत्यन्त गूढ़ है, समस्त जीवोंके अन्तरमें प्रविष्ट है, बुद्धिरूपी गुफामें छिपा हुआ है, राग-द्वेषादि अनर्थमय देहमें स्थित है और सबसे पुराना है। जब कोई

धीर पुरुष इस देवताको आत्मयोगके द्वारा अर्थात् चित्तको विषयोंसे निवृत्तकर उसे आत्मामें समाहित करता है तब इसे जानकर वह हर्ष और शोकसे तर जाता है। कारण, आत्मामें हर्ष और शोकको कहीं भी स्थान नहीं, ये तो वास्तवमें केवल बुद्धिके विकारमात्र हैं। जिसने ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके द्वारा आत्म-तत्त्वको सुनकर उसे सम्यक्‌रूपसे धारण कर लिया है और धर्मयुक्त इस सूक्ष्म आत्माको जड शरीरादिसे पृथक् समझकर प्राप्त कर लिया है वही आनन्दधामको पाकर अतुल आनन्दमें रम जाता है। मैं समझता हूँ कि नचिकेताके लिये भी वह मोक्षका द्वार खुला हुआ है।'

'विवृतं सद्म नचिकेतसं मन्ये'

यमराजके वचनोंसे अपनेको आत्मज्ञानका अधिकारी समझ-कर नचिकेताने कहा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

(कठ० १।२।१४)

'हे भगवन्! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्मसे अतीत, तथा इस कार्य और कारणरूप प्रपञ्चसे पृथक्, एवं भूत तथा भविष्यत्‌से भिन्न जिस सर्व प्रकारके व्यावहारिक विषयोंसे अतीत परब्रह्मको आप देखते हैं उसे मुझे बतलाइये।'

साधन और स्वरूप

नचिकेताके प्रश्नको सुनकर यमराजने आत्माका स्वरूप

बतलानेसे पूर्व उसके साक्षात् साधन प्रणवका उपदेश आरम्भ किया। यमराज बोले—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥*

(कठ० १।२।१५)

'समस्त वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं, समस्त तप जिसे बतलाते हैं अर्थात् जिसके लिये किये जाते हैं, जिसको प्राप्त करनेके लिये साधकगण ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं वह पद मैं संक्षेपमें बतलाता हूँ वह है 'ॐ'।'

वह परात्पर परमात्मा जो सब नामोंसे परे होनेपर भी सब नामोंमें भरा हुआ है, जो सर्वथा नामविहीन होते हुए भी अनेक नामोंसे सम्बोधित किया जाता है, उसके समस्त नामोंमें 'ॐ' सर्वश्रेष्ठ है। ॐ शब्दब्रह्मका प्रतीक है। यह अक्षर ही ब्रह्म है और इसी अक्षरको ब्रह्मस्वरूप समझकर इसकी उपासना करनेसे साधक जो चाहता है सो पाता है।

'यो यदिच्छति तस्य तत्।'

यह ओंकार ही ब्रह्मकी प्राप्तिका सबसे उत्तम और श्रेष्ठ अवलम्बन है और इसी अवलम्बनको जान लेनेसे ब्रह्मलोकमें महिमा होती है।

---

* गीताके अ० ८ के ११ वें श्लोकमें थोड़े-से अन्तरसे यही बात कही है और आगे चलकर १३ वें श्लोकमें प्रणवका साधन बतलाया है।

इस प्रकार प्रणवोपासनारूपी साधन बतलाकर अब यमराज आत्माका स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्
नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥*

(कठ० १ । २ । १८)

'यह चैतन्यस्वरूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है; न यह किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ है, न कोई दूसरा ही इससे उत्पन्न हुआ है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है और सनातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मरता।' मरना और मारना सब शरीरमें है; आत्मा न कभी मरता है, न कोई उसे मार सकता है। शस्त्रादिसे देह कट जानेपर भी देहमें स्थित यह आत्मा ज्यों-का-त्यों बना रहता है। जिस प्रकार मकानके नष्ट होनेसे उसमें स्थित आकाश नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार देहादिके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता। इसीलिये यमराज कहते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते ॥†

(कठ० १ । २ । १९)

'अज्ञानी मारनेवाला समझता है कि 'मैं इसे मारता हूँ' और मरनेवाला समझता है—'मैं मरा हूँ'; परन्तु वे दोनों ही नहीं

*-† गीताके अ० २ श्लोक १९-२० में थोड़े-से शब्दान्तरसे ये दोनों मन्त्र ज्यों-के-त्यों हैं।

समझते हैं, क्योंकि यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न कोई मरता ही है।' यह आत्मा—

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
(कठ० १।२।२०)

'जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और जो महान्‌से भी महत्तर है, जो जीवकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ है'—इसे वही देख पाता है जो कामनाओंसे रहित है, जो कर्मोंकी सिद्धि और असिद्धिमें समचित्त है, जो सुत-वित-दारके उत्पत्ति या विनाशमें हर्ष और शोकको नहीं प्राप्त होता, जो प्रत्येक अवस्थामें परमात्माकी एक अनन्त सत्ताको उपलब्ध करता हुआ शान्त और स्थिर रहता है। परन्तु जो इस प्रकारका नहीं है उसे आत्माके दर्शन नहीं होते। क्योंकि यह आत्मा निश्चल होनेपर भी दूरतक पहुँच जाता है, सोया हुआ ही सर्वत्र चला जाता है, विद्या और धनादि मदयुक्त होते हुए भी मदरहित है। इसे मेरे अतिरिक्त अन्य कौन जान सकता है?'

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥
(कठ० १।२।२२)

'यह समस्त अनित्य शरीरोंमें रहते हुए भी शरीररहित है, समस्त अस्थिर पदार्थोंमें व्याप्त होते हुए भी सदा स्थिर है; इस नित्य और महान् विभु आत्माको जो धीर पुरुष जान लेता है वही शोकसे तर जाता है।'

यह एक ही आत्मा सब ओरसे और सबमें व्यापक होनेपर भी—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।*

'न तो यह वेदके प्रवचनसे प्राप्त होता है, न विशाल बुद्धिसे मिलता है और न केवल जन्मभर शास्त्रोंके श्रवण करनेसे ही मिलता है ।' यह मिलता है उसीको जो इसको पानेके लिये परम व्याकुल हो जाता है और मिलता है उसको—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥

(कठ० १ । २ । २३)

—जिसको यह स्वप्रकाश आत्मा स्वयं स्वीकार कर लेता है और जिसके निकट अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट कर देता है ।

सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥

जबतक परमात्माको पानेके लिये हृदयमें व्याकुलता और अधीरता नहीं उत्पन्न होती, जबतक साधक निष्काम साधनसे सम्पन्न नहीं हो जाता, जबतक परमात्माके नित्य स्वरूपके साथ उसके मनका सर्वथा संयोग नहीं हो जाता तबतक सारी बातें और सारी क्रियाएँ शुष्क और व्यर्थ हैं । ऐसे पुरुषका ज्ञान केवल मौखिक और लोकरञ्जकमात्र होता है । उससे कोई लाभ नहीं होता । 'जो पापोंमें रत है; जो दम, शम तथा चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप समाधिसे रहित है; जिसका मन अशान्त है उसको केवल पाण्डित्यकी प्रचुरता और तर्कोंकी तीक्ष्णतासे ही आत्म-

* गीताके अ० ११ के ५३ वें श्लोकमें प्रायः ऐसे ही वचन हैं ।

साक्षात्कार नहीं हो सकता । जो शम-दमादि गुणोंसे युक्त है, जो शुद्ध, संयत और समाहितचित्त है, जो इन्द्रियलालसाओंसे विरत है और जिसने श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनद्वारा अभेद-रूप प्रज्ञान प्राप्त कर लिया है वही उस प्रज्ञानके द्वारा इस आत्माको प्राप्त होता है—**'प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्'** ।

जो साधनसम्पन्न नहीं हैं, उनको आत्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इसी बातको बतलानेके लिये यमराजने फिर कहा कि 'हे नचिकेता ! देखो, दूसरोंकी तो बात ही क्या है, जो ब्राह्मण और क्षत्रिय समस्त धर्मोंके रक्षक और प्राणस्वरूप हैं, जो इतने श्रेष्ठ हैं वे भी उस परमात्माके 'अन्न' बन जाते हैं । सबका संहार करनेवाला मृत्यु भी जिस परमात्माके भोजनका उपसेचन अर्थात् साग-पात बन जाता है ऐसे उस महामहिमान्वित परमात्माको संसारके भोगोंमें आसक्त और साधनरहित मनुष्य कैसे जान सकता है कि वह 'इस प्रकार' का है !'

आत्मा और परमात्माका निर्णय करके यमराजने शिष्यको कर्मसे अग्निविद्या और ज्ञानसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति बतलानेके लिये कहा, 'जो यजमानको दुःखसागरसे पार करनेके लिये पुलके समान है वही नाचिकेत अग्नि है—और जो संसारसागरसे पार होना चाहनेवालोंके लिये परम आश्रयस्वरूप है वही अक्षर परब्रह्म है । कर्मके द्वारा अपरब्रह्मको और ज्ञानके द्वारा परब्रह्मको जानना चाहिये । जीवकी मुक्तिके लिये जितने पथ हैं उन सबमें ज्ञान ही

सबसे प्रधान है। तदनन्तर यमराजने आत्माका रथीरूपसे वर्णन करते हुए कहा—

आत्मान॰ रथिनं विद्धि शरीर॰रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषया॰ स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० १।३।३-४)

'शरीर रथ है, आत्मा रथका स्वामी रथी है, बुद्धि सारथी है, और मन लगाम है, ऐसा समझो। श्रोत्रादि इन्द्रियाँ घोड़े हैं, शब्द-स्पर्शादि विषय ही इनके दौड़नेका मैदान है और शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं।'

घोड़ोंसे ही रथ चलता है, परन्तु उस रथको चाहे जिस तरफ ले जाना लगाम हाथमें पकड़े हुए बुद्धिमान् सारथीका काम है। इन्द्रियरूपी बलवान् और प्रमथनकारी घोड़े विषयरूपी मैदानमें मनमाना दौड़ना चाहते हैं, परन्तु यदि बुद्धिरूपी सारथी मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें रखता है तो घोड़ोंकी ताकत नहीं कि वे मनरूपी लगामके सहारे बिना ही चाहे जिस तरफ दौड़ने लगें। यह सबको विदित है इन्द्रियाँ वास्तवमें विषयका ग्रहण तभी कर सकती हैं जब मन उनके साथ हो। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं जिस ओर लगामका सहारा होता है; परन्तु इस लगामको ठीक रखना सारथीके बल, बुद्धि और मार्गके ज्ञानपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूप सारथी विवेकपूर्ण स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान् और

इन्द्रियरूपी अश्वोंकी सञ्चालनक्रियामें निपुण नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें न रहकर लगामको अपने वशमें कर लेते हैं और परिणाममें वे रथको रथी और सारथीसमेत चाहे जैसे बुरे स्थानमें ले जाकर पटक देते हैं। परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

(कठ० १।३।६)

'जिसकी बुद्धिमें विवेक होता है, जिसका मन एकाग्र और समाहित होता है उसकी इन्द्रियाँ अच्छे घोड़ोंकी तरह बुद्धिरूप सारथीके वश रहती हैं।'

जिसका मन निग्रहरहित है, जो अविवेकी है और जो सदा अपवित्र है, ऐसे रथीको कभी अपने लक्ष्य—परमपद ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। उसे बारंबार कष्टमय जन्ममरणरूप संसारमें ही भटकना पड़ता है। परन्तु—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

(कठ० १।३।८)

'जो विवेकी है, जिसका मन निगृहीत है, जो सदा पवित्र रहता है वह ऐसे परमपदको पाता है जहाँसे लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। जिसका बुद्धिरूप सारथी विवेकी है, जिसकी मनरूप लगाम स्थिर है, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े लगामके साथ-ही-साथ विवेकमयी बुद्धिके वशमें हैं वह इसी रथकी

सहायतासे संसारसागरके उस पार अपने लक्ष्यस्थानपर अनायास ही जा पहुँचता है और वही—

तद्विष्णोः परमं पदम्।

—'विष्णुका परमपद है।'

यमराजने फिर कहा कि 'इन्द्रियोंसे उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धिसे महत् श्रेष्ठ है, महत्‌से अव्यक्त श्रेष्ठ है और अव्यक्तसे पुरुष श्रेष्ठ है।' बस, इस पुरुषसे परे और कोई नहीं है—

सा काष्ठा सा परा गतिः।

यही चरम सीमा है, यही परमगति है, परन्तु यह केवल—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

सूक्ष्मदर्शियोंके द्वारा सूक्ष्म वस्तुके निरूपणमें निपुण एकाग्रतायुक्त बुद्धिसे ही देखा जा सकता है। अतएव '**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**' उठो! जागो! और महापुरुषोंके पास जाकर इसे जानो। बुद्धिमान् लोग इस मार्गको तलवारकी धारपर चलनेके समान बतलाते हैं—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं, इसीसे वे केवल बाहरकी वस्तुओंको देखती हैं, अन्तरात्माको नहीं देखतीं। कोई विवेकसम्पन्न पुरुष ही अमृतत्वकी शुभ इच्छासे इन इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करके अन्तरात्माको देख पाता है। अज्ञानी लोग बाह्य विषयोंकी ओर ही दौड़ते हैं और इसीसे वे सर्वत्र व्याप्त मृत्युके फन्देमें फँस जाते हैं परन्तु ज्ञानी पुरुष उस अमृतत्वको जानकर इन अनित्य पदार्थोंसे नित्य वस्तुकी प्रार्थना नहीं करते।

जो यहाँ (कार्यमें) है वही वहाँ (कारणमें) है। परन्तु जो उपाधिके सम्बन्धसे और भेदज्ञानके कारण अविद्याके प्रभावसे उस अभिन्नस्वरूप ब्रह्मको नाना रूपोंमें देखता है—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति।

वह बार-बार मृत्युको (जन्म-मरणको) ही प्राप्त होता है। इस ज्ञानकी प्राप्ति केवल विचारसे ही हो सकती है। यहाँ किञ्चित् भी भेद नहीं है। जिसको यहाँ भेद दीखता है उसीको बार-बार मृत्युकी शरण लेनी पड़ती है। जैसे शुद्ध जलमें शुद्ध जल मिलानेपर दोनों मिलकर एकरस तन्मय हो जाते हैं इसी प्रकार आत्मदर्शी पुरुषका आत्मा परमात्मासे मिलकर ब्रह्मरूप बन जाता है।

यमराजने आगे चलकर फिर कहा 'हे नचिकेता! मैं प्रसन्न होकर तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय सनातन ब्रह्मतत्त्व बतला रहा हूँ। मृत्युके बाद जीवका क्या होता है सो तुम सुनो! जिसके जैसे कर्म और जैसी वासना होती है और जिसका जैसा ज्ञान होता है उसीके अनुसार कोई तो मृत्युके बाद माताके गर्भमें जाता है और कोई मृत्युके पश्चात् वृक्ष, पाषाणादि स्थावर योनिको प्राप्त होता है। जब समस्त प्राणी निद्राग्रस्त रहते हैं तब जो एक निर्गुण ज्योतिर्मय ब्रह्म सुप्रकाशितरूपसे जाग्रत् रहकर समस्त विषयोंको प्रकाशित करता है, वही शुद्ध है, वही ब्रह्म है, उसीका नाम अमृत है, उसके सिवा और कोई छिपा हुआ ब्रह्म नहीं है। पृथ्वी आदि सभी लोक उसीमें अवस्थित हैं, उसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । २ । ९-१०)

अग्नि एक ही है परन्तु जैसे सम्पूर्ण भुवनमें प्रवेश करनेपर वही भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, इसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें रहनेवाला आत्मा एक ही है परन्तु सबमें भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है, आकाशकी तरह निर्विकार होनेके कारण बाहर भी वही रहता है। जैसे एक ही वायु लोकमें प्रवेशकर भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है इसी प्रकार सब प्राणियोंमें व्यापक एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न रूपमें दीखता है तथा बाहर भी रहता है। अग्नि और वायुके दृष्टान्तमें केवल यही अन्तर है कि अग्नि तो प्रकाशस्वरूप होकर लोकमें प्रवेश करता है, और वायु प्राण-स्वरूप होकर प्रत्येक देहमें प्रवेश करता है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
(कठ० २ । २ । ११)

जैसे एक ही सूर्य सब लोकोंकी आँख है, अच्छी-बुरी सभी वस्तुओंका प्रकाश सूर्यसे होता है तथापि वह बाह्य दोषोंसे लिप्त नहीं होता इसी प्रकार वह आत्मा सर्वव्यापी होनेपर भी जगत्के दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, उनसे बाहर रहता है।

समस्त भूतप्राणियोंके अन्दर शक्तिरूपसे रहनेवाला वह

आत्मा एक ही है वही सबका नियन्ता है, वह एक ही अनेक रूपमें दिखायी देता है। जो धीर पुरुष इस प्रकार आत्माको जानते हैं उनको ही—

तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

——नित्य सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

(कठ० २।२।१३)

जो नित्योंका भी नित्य है, जो चेतनोंका भी चेतन है, जो एक ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है उस शरीरस्थ आत्माका जिनको अनुभव होता है वे ही नित्यशान्तिको प्राप्त होते हैं, दूसरे नहीं। जिसको सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता, जो चन्द्रमा और तारागणोंसे प्रकाशित नही होता, बिजली जिसे प्रकाशित नहीं कर सकती उसको बेचारा अग्नि तो क्या प्रकाशित करे ? जिसके प्रकाशसे ही सबका प्रकाश होता है, उसी परिपूर्ण प्रकाशकी दिव्य ज्योतिसे समस्त विश्व प्रकाशित हो रहा है।

इस दृश्यमान संसारके समस्त पदार्थ उस परब्रह्मसे निकलकर उसीकी सत्तासे सदा काँपते हुए अपने-अपने काममें लगे रहते हैं, क्योंकि वह उठे हुए वज्रके सदृश महाभयङ्कर है।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

(कठ० २।३।३)

अग्नि उसीके भयसे तपता है, सूर्य उसीके भयसे तपता है तथा इन्द्र, वायु और पञ्चम मृत्यु उसीके भयसे दौड़ते हैं।

जो पुरुष इस शरीरके नाश होनेसे पूर्व ही उस आत्माको जान लेता है वही मुक्त होता है, नहीं तो—

सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।

—इन जन्ममरणशील लोकोंमें उसे फिर जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

जब मनुष्यकी सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, जब मन सब प्रकारकी मलिनताको त्यागकर अत्यन्त विशुद्ध बन जाता है और जब अन्तःकरणकी समस्त वासनाएँ सम्पूर्णरूपसे नष्ट हो जाती हैं तब यह—

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।

(कठ० २।३।१४)

—मरणशील मनुष्य अमृत बनकर यहींपर ब्रह्मको प्राप्तकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हो जाता है। इस अवसरपर उसके हृदयकी ('मैं' और 'मेरे' की) समस्त ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं और वह अमृत बन जाता है, बस—

एतावदनुशासनम्।

यही शास्त्रका उपदेश है, इससे परे और कुछ भी नहीं है।

(कठोपनिषद्के आधारपर)



आपद्धर्म

एक समय कुरुदेशमें ओलोंकी बड़ी वर्षा होनेसे और उगते हुए अन्नका नाश हो जानेसे भयानक अकाल पड़ गया। अकालसे पीड़ित नर-नारी अन्नके अभावसे देश छोड़कर भागने लगे। इसीलिये चक्रके पुत्र उषस्तिने भी अपनी अप्राप्तयौवना पत्नी आटिकीको साथ लेकर देश छोड़ दिया और भटकते-भटकते दोनों एक महावतोंके ग्राममें पहुँचे। भूखके मारे उस समय उषस्ति मरणासन्नदशाको प्राप्त हो रहा था। उसने एक महावतको उबले हुए उड़दके दाने खाते देखा और उसके पास जाकर कुछ उड़द देनेको कहा। महावतने कहा—'मैं इस बर्तनमें रखे हुए जो उड़द खा रहा हूँ इन जूँठे उड़दोंके सिवा मेरे पास और उड़द नहीं है तब मैं तुम्हें कहाँसे दूँ?' महावतकी बात सुनकर उषस्तिने कहा—'मुझे इनमेंसे ही कुछ दे दो' तब महावतने उनमेंसे थोड़े-से उड़द उषस्तिको दे दिये और जल सामने रखकर कहा कि 'लो, इनको खाकर जल पी लो।' इसपर उषस्तिने कहा—'भाई! मैं यह जल पी लूँगा तो मुझे दूसरेकी जूँठन खानेका दोष लगेगा।'

महावतने अचरजसे पूछा, 'तो क्या तुमने जो उड़द मुझसे लिये हैं, ये जूँठे नहीं हैं, फिर जूँठे जलहीमें कौन-सा दोष है?'

उषस्तिने उत्तर दिया—'भाई! यदि मैं यह उड़द नहीं खाता तो मेरे प्राण नहीं रहते (प्राण-संकटमें आपद्धर्म समझकर ही मैं उड़द खा रहा हूँ) अब जल तो मेरी इच्छानुसार मुझे दूसरी जगह भी मिल जायगा। यदि उड़दकी तरह मैं तुम्हारा जूँठा जल



यज्ञ-मण्डपमें राजा और उषस्ति

भी पी लूँ तब तो वह स्वेच्छाचार ही होगा। आपद्धर्म नहीं रहेगा। इसलिये मैं तुम्हारा जल नहीं पीऊँगा।' इतना कहकर उषस्तिने कुछ उड़द खा लिये और शेष अपनी स्त्रीको दे दिये। ब्राह्मणीको पहले ही कुछ खानेको मिल गया था, इसलिये पतिके दिये हुए जूँठे उड़द उसने खाये नहीं, अपने पास रख लिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल उषस्तिने प्रातःकृत्य करनेके बाद अपनी स्त्रीसे कहा—'क्या करूँ, मुझे जरा-सा भी अन्न कहींसे खानेको मिल जाय तो मैं अपना निर्वाह होने लायक कुछ धन प्राप्त कर सकता हूँ, यहाँसे समीप ही एक राजा यज्ञ कर रहा है, वह ऋत्विक्के काममें मेरा भी वरण कर लेगा।'

यह सुनकर स्त्रीने कहा—'मेरे पास कलके बचे हुए कुछ उड़द हैं, लीजिये, इन्हें खाकर यज्ञमें शीघ्र चले जाइये।' भूखसे अशक्त हुए उषस्तिने उड़द खा लिये और कुछ स्वस्थ होकर वह राजाके यज्ञमें चले गये। वहाँ जाकर वे आस्तावमें (स्तुतिके स्थानमें) स्तुति करनेवाले उद्गाताओंके पास जाकर बैठ गये। और स्तुति करनेवालोंकी भूल देखकर उनसे बोले—'हे प्रस्तोता! आप जिन देवताकी स्तुति करते हैं वे देव कौन हैं? आप यदि अधिष्ठाताको जाने बिना उनकी स्तुति करेंगे तो याद रखिये, आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा' इसी प्रकार उद्गातासे कहा कि 'हे उद्गीथकी स्तुति करनेवाले! यदि आप उद्गीथभागके देवताको जाने बिना उनका उद्गान करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।' तदनन्तर उन्होंने प्रतिहारका गान करनेवालेकी ओर भी मुड़कर कहा कि 'हे प्रतिहारका गान करनेवाले प्रतिहर्ता! यदि आप

देवताको बिना जाने उसका प्रतिहार करेंगे तो आपका मस्तक नीचे गिर जायगा।' यह सुनकर स्तोता, उद्गाता और प्रतिहर्ता आदि सब ऋत्विजगण मस्तकके गिरनेके डरसे अपने-अपने कर्मको छोड़कर चुप होकर बैठ गये।

राजाने अपने ऋत्विजोंकी यह दशा देखकर कहा कि 'हे भगवन्! आप कौन हैं, मैं आपका परिचय जानना चाहता हूँ।' उषस्तिने कहा—'राजन्! मैं चक्रका पुत्र उषस्ति हूँ।' राजाने कहा—'ओहो! भगवन्! उषस्ति आप ही हैं? मैंने आपके बहुत-से गुण सुने हैं। इसीलिये मैंने ऋत्विजके कामके लिये आपकी बहुत खोज की थी परन्तु आपके न मिलनेपर मुझे दूसरे ऋत्विज वरण करने पड़े। अब मेरे सौभाग्यसे आप पधारे हैं तो हे भगवन्! ऋत्विज-सम्बन्धी समस्त कर्म आप ही करनेकी कृपा कीजिये।'

उषस्तिने कहा—'बहुत अच्छा! परन्तु इन ऋत्विजोंको हटाना नहीं, मेरी आज्ञानुसार ये ऋत्विजगण अपना-अपना कर्म करें। और दक्षिणा भी जो इन्हें दी जाय, उतनी ही मुझे देना।' (न तो मैं इन लोगोंको निकालना चाहता हूँ, और न दक्षिणामें अधिक धन लेकर इनका अपमान करना चाहता हूँ। मेरी देख-रेखमें ये सब कर्म करते रहेंगे) तदनन्तर प्रस्तोता, उद्गाता आदि समस्त ऋत्विजोंने उषस्तिके पास जाकर विनयपूर्वक उनसे पूछ-पूछकर सब बातें जान लीं और उषस्तिने उन लोगोंको सब समझा-कर उनके द्वारा राजाका यज्ञ भलीभाँति पूर्ण करवाया।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)





गाड़ीवाला रैक्व

(४)

गाड़ीवालेका ज्ञान

प्रसिद्ध जनश्रुत राजाके पुत्रका पौत्र जानश्रुति नामक एक राजा था, वह बहुत ही श्रद्धाके साथ आदरपूर्वक योग्य पात्रोंको बहुत दान दिया करता था। अतिथियोंके लिये उसके घरमें प्रतिदिन बहुत-सा भोजन बनवाया जाता था। वह महान् दक्षिणा देनेवाला था। वह चाहता था कि प्रत्येक शहर और गाँवमें रहनेवाले साधु, ब्राह्मण आदि सब मेरा ही अन्न खायँ, इसलिये उसने जहाँ-तहाँ सर्वत्र ऐसे धर्मस्थान, अन्नसत्र या छात्रावास खोल रक्खे थे जहाँ अतिथियों आदिके ठहरने और भोजन करनेका सुप्रबन्ध था।

राजाके अन्नदानसे सन्तुष्ट हुए ऋषि और देवताओंने राजाको सचेत करके उसे ब्रह्मानन्दका सुख प्राप्त करानेके लिये हंसोंका रूप धारण किया और राजाको दिखायी दे सकें ऐसे समय वे उड़ते हुए राजाके महलकी छतके ऊपर जा पहुँचे। वहाँ पिछले हंसने अगले हंससे कहा—'भाई भल्लाक्ष! इस जनश्रुतके पुत्रके पौत्र जानश्रुतिका तेज दिनके समान सब जगह फैल रहा है। इसका स्पर्श न कर लेना, कहीं स्पर्श कर लेगा तो यह तेज तुझे भस्म कर डालेगा।' यह सुनकर अगले हंसने कहा—

'भाई ! तुम बैलगाड़ीवाले रैक्वको नहीं जानते, इसीसे तुम उस रैक्वसे इसका तेज बहुत ही कम होनेपर भी उसकी-सी प्रशंसा कर रहे हो ।' पिछले हंसने कहा—'वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है और कैसा है, सो तो बता ।' अगले हंसने कहा—'भाई ! उस रैक्वकी महिमाका क्या बखान किया जाय । जैसे जुआ खेलनेके पासेके नीचेके तीनों भाग उसके अन्तर्गत होते हैं, यानी जब जुआरीका पासा पड़ता है तब वह तीनोंको जीत लेता है । इसी प्रकार प्रजा जो कुछ भी शुभ कार्य करती है, वह सारे शुभ कर्म और उनका फल रैक्वके शुभ कर्मके अन्तर्गत है । अर्थात् प्रजाकी समस्त शुभ क्रियाओंका फल उसे मिलता है । वह रैक्व जिस जाननेयोग्य वस्तुको जानता है, उस वस्तुको जो जान जाता है उसे भी रैक्वके समान ही सब प्राणियोंके शुभ कर्मोंका फल प्राप्त होता है । मैं उसी विद्वान् रैक्वके लिये ही ऐसे कह रहा हूँ ।'

महलपर सोये हुए राजा जानश्रुतिने हंसोंकी ये बातें सुनीं और रातभर वह इन्हीं बातोंको स्मरण करता हुआ जागता रहा । प्रातःकाल बन्दीजनोंकी स्तुति सुनकर राजाने बिछौनेसे उठकर बन्दीजनोंसे कहा कि 'हे वत्स ! तुम गाड़ीवाले रैक्वके पास जाकर उससे कहो कि मैं आपसे मिलना चाहता हूँ ।' भाटने कहा—'हे राजन् ! वह गाड़ीवाला रैक्व कौन है ? और कैसा है ?' राजाने जो कुछ हंसोंने कहा था, सो उसे कह सुनाया । राजाकी आज्ञानुसार भाटोंने बहुत-से नगरों और गाँवोंमें रैक्वकी खोज की परन्तु कहीं पता नहीं लगा । तब लौटकर उन्होंने राजासे कहा

कि 'हमें तो रैक्वका कहीं पता नहीं लगा।' राजाने विचार किया कि इन भाटोंने रैक्वको नगरों और ग्रामोंमें ही खोजा है। भला, ब्रह्मज्ञानी महापुरुष विषयी पुरुषोंके बीचमें कैसे रहेंगे? और उनसे कहा कि 'अरे! जाओ, ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके रहनेके स्थानोंमें (अरण्य, नदीतट आदि एकान्त स्थानोंमें) उन्हें खोजो।'

राजाकी आज्ञानुसार भाट फिर गये, और ढूँढ़ते-ढूँढ़ते किसी एक एकान्त निर्जन प्रदेशमें गाड़ीके नीचे बैठे हुए शरीर खुजलाते हुए एक पुरुषको उन्होंने देखा। बन्दीजन उनके पास जाकर विनयके साथ पूछने लगे—'हे प्रभो! क्या गाड़ीवाले रैक्व आप ही हैं? मुनिने कहा—'हाँ, मैं ही हूँ।'

रैक्वका पता लगनेसे भाटोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे तुरन्त राजाके पास जाकर कहने लगे कि 'हमने अमुक स्थानमें रैक्वका पता लगा लिया।'

तदनन्तर राजा छः सौ गायें, सोनेका कण्ठहार और खच्चरियों-से जुता हुआ एक रथ आदि लेकर रैक्वके पास गया और वहाँ जाकर हाथ जोड़कर रैक्वसे बोला—'भगवन्! यह छः सौ गायें, एक सोनेका हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, ये सब मैं आपके लिये लाया हूँ। कृपा करके आप इनको स्वीकार कीजिये और हे भगवन्! आप जिस देवताकी उपासना करते हैं, उस देवताका मुझको उपदेश कीजिये।'

राजाकी बात सुनकर रैक्वने कहा, 'अरे शूद्र*! यह गौएँ,

---

* शोकसे विकल होनेके कारण राजाको मुनिने शूद्र कहा।

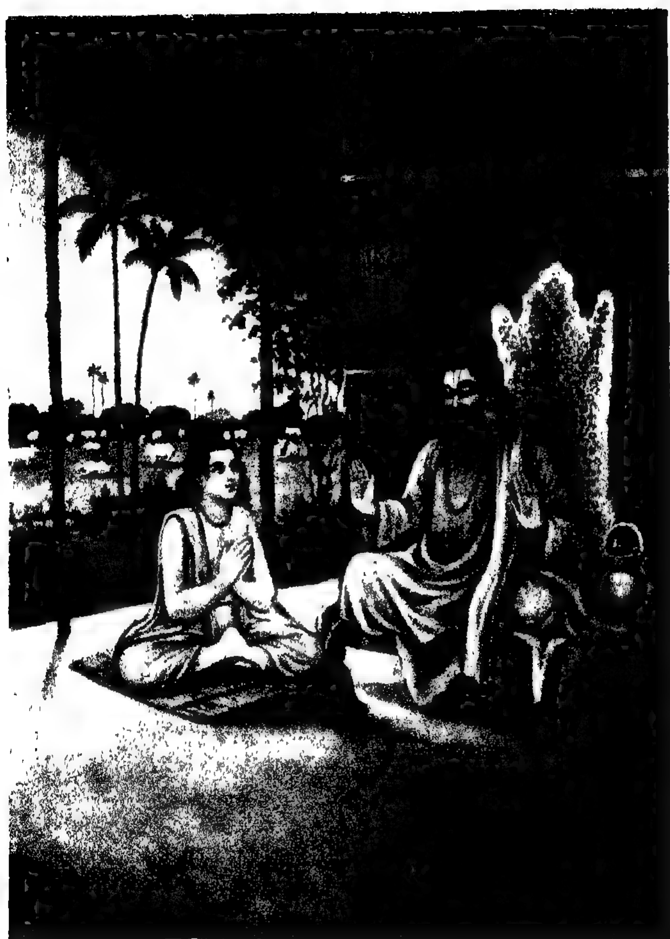
हार और रथ तू अपने ही पास रख।' यह सुनकर राजा घर लौट आया और विचारने लगा कि 'मुझको मुनिने शूद्र क्यों कहा। या तो मैं हंसोंकी वाणी सुनकर शोकातुर था इसलिये शूद्र कहा होगा। अथवा थोड़ा धन देखकर उत्तम विद्या लेनेका अनुचित प्रयत्न समझकर भी मुनि मुझको शूद्र कह सकते हैं। परन्तु बिना ज्ञानके तो मेरा शोक दूर होगा नहीं, अतएव मुनिको प्रसन्न करनेके लिये मुझे फिर वहाँ जाना चाहिये।'

यह विचारकर राजा अबकी बार एक हजार गायें, एक सोनेका कण्ठहार, खच्चरियोंसे जुता हुआ एक रथ और अपनी पुत्रीको लेकर फिर मुनिके पास गया और हाथ जोड़कर कहने लगा—'हे भगवन्! यह सब मैं आपके लिये लाया हूँ, इनको आप स्वीकार कीजिये और धर्मपत्नीके रूपमें मेरी इस पुत्रीको, और जहाँ आप रहते हैं इस गाँवको भी ग्रहण कीजिये। तदनन्तर आप जिस देवकी उपासना करते हैं उसका मुझे उपदेश कीजिये।'

राजाके वचन सुनकर, कन्याकी करुणाभरी स्थिति देखकर मुनिने उसको आश्वासन दिया और कहा कि 'हे शूद्र! तू फिर यही सब वस्तुएँ मेरे लिये लाया है? (क्या इन्हींसे ब्रह्मज्ञान खरीदा जा सकता है?)' राजा चुप होकर बैठ गया। कुछ समय बाद मुनिने राजाको धनके अभिमानसे रहित हुआ जानकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। मुनि रैक्व जहाँ रहते थे उस पुण्य प्रदेशका नाम रैक्वपर्ण हो गया।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)





सत्यकाम जाबाल और गुरु गौतम ऋषि

(५)

गोसेवासे ब्रह्मज्ञान

जबाला नाम्नी एक सदाचारिणी ब्राह्मणी थी। उसके सत्यकाम नामक पुत्र था। जब वह विद्याध्ययन करने योग्य हुआ, तब एक दिन उसने गुरुकुल जानेकी इच्छासे अपनी मातासे पूछा—'हे पूजनीया माता! मैं ब्रह्मचर्यपालन करता हुआ गुरुकी सेवामें रहना चाहता हूँ, गुरु मुझसे नाम और गोत्र पूछेंगे; मैं अपना नाम तो जानता ही हूँ परन्तु गोत्र नहीं जानता, अतएव मेरा गोत्र क्या है सो बतलाओ।'

जबालाने कहा—'बेटा! तू किस गोत्रका है, इस बातको मैं नहीं जानती। मेरी जवानीमें, जब तू पैदा हुआ था, तब मेरे स्वामीके घरपर बहुत-से अतिथि आया करते थे। मेरा सारा समय उनकी सेवामें ही बीत जाता था, इससे मुझको तेरे पितासे गोत्र पूछनेका समय नहीं मिला, अतएव मैं तेरा गोत्र नहीं जानती। मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम; बस, मैं इतना ही जानती हूँ। तुझसे आचार्य पूछें तो कह देना कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

माताकी आज्ञा लेकर सत्यकाम महर्षि हरिद्रुमके पुत्र गौतम ऋषिके घर गया और प्रार्थना करके बोला कि 'हे भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ आपके समीप रहकर सेवा करना चाहता हूँ । मुझे स्वीकार कीजिये ।' गुरुने बड़े स्नेहसे पूछा—'हे सौम्य ! तेरा गोत्र क्या है ?' सरल सत्यकामने नम्रतासे कहा—'भगवन् ! मेरा गोत्र क्या है, इस बातको मैं नहीं जानता । मैंने यहाँ आते समय मातासे पूछा था तब उन्होंने कहा कि मैं युवावस्थामें अनेकों अतिथियोंकी सेवामें लगी रहनेके कारण स्वामीसे गोत्र नहीं पूछ सकी । युवावस्थामें जब तेरा जन्म हुआ था उसी समय तेरे पिताकी मृत्यु हो गयी थी, इसलिये शोक और दुःखसे पीड़ित होनेके कारण दूसरोंसे भी मेरा गोत्र नहीं पूछ सकी । मैं केवल इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम है । अतएव हे भगवन् ! मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ ।'

सत्यवादी सरलहृदय सत्यकामकी सीधी-सच्ची बात सुनकर ऋषि गौतम प्रसन्न होकर बोले—'वत्स ! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता—**'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति'**—ऐसा सत्य और कपटरहित वचन कहनेवाला तू निश्चय ब्राह्मण है । मैं तेरा उपनयनसंस्कार करूँगा, जा ! थोड़ी-सी समिधा ले आ !'

विधिवत् उपनयनसंस्कार होनेके बाद वेदाध्ययन कराकर ऋषि गौतमने अपनी गोशालामेंसे चार सौ दुबली-पतली गौएँ चुनकर अधिकारी शिष्य सत्यकामसे कहा—'पुत्र ! इन गौओंको चराने वनमें ले जा । देख, जबतक इनकी संख्या पूरी एक हजार न हो

जाय तबतक वापस न आना।' सत्यकामने प्रसन्न होकर कहा—'भगवन्! इन गौओंकी संख्या पूरी एक हजार न हो जायगी, तबतक वापस नहीं आऊँगा।' **'नासहस्रेणावर्तयेति'**—यों कहकर सत्यकाम गौओंको लेकर जिस वनमें चारे-पानीकी बहुतायत थी, उसीमें चला गया और वहीं कुटिया बनाकर वर्षोंतक उन गौओंकी तन-मनसे खूब सेवा करता रहा।

गुरुभक्तिका कितना सुन्दर दृष्टान्त है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छावाले शिष्यको गौ चरानेके लिये गुरु वनमें भेज दें और वह चुपचाप आज्ञा शिरोधार्यकर वर्षोंतक निर्जन वनमें रहने चला जाय। यह बात ज्ञानपिपासु गुरुभक्त भारतीय ऋषिकुमारोंमें ही पायी जाती है। आजकी संस्कृति तो इससे सर्वथा विपरीत है! अस्तु!

सेवा करते-करते गौओंकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी। तब एक दिन एक वृषभने आकर पुकारा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया—'भगवन्! क्या आज्ञा है।' वृषभने कहा—'वत्स! हमारी संख्या एक हजार हो गयी है; अब हमें गुरुके घर ले चलो, मैं तुमको ब्रह्मके एक पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'कहिये भगवन्!' इसके बाद वृषभने ब्रह्मके एक पादका उपदेश देकर कहा—'इसका नाम प्रकाशवान् है। अगला उपदेश तुझे अग्निदेव करेंगे।'

दूसरे दिन प्रातःकाल सत्यकाम गौओंको हाँककर आगे चला, सन्ध्याके समय रास्तेमें पड़ाव डालकर उसने गौओंको वहाँ रोका

और उन्हें जल पिलाकर रात्रिनिवासकी व्यवस्था की। तदनन्तर वनमेंसे काठ बटोरा और अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। अग्निदेवने तीन बार कहा—'सत्यकाम!' सत्यकामने उत्तर दिया–'भगवन्! क्या आज्ञा है?' अग्निने कहा—'हे सौम्य! मैं तुझे ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकाम बोला—'कीजिये भगवन्!' तदनन्तर अग्निने ब्रह्मके दूसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम अनन्तवान् है। अगला उपदेश तुझे हंस करेगा।'

सत्यकाम रातभर उपदेशका मनन करता रहा। प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे बढ़ा और सन्ध्या होनेपर किसी सुन्दर जलाशयके किनारे ठहर गया। गौओंके लिये रात्रिनिवासकी व्यवस्था की और आप आग जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमें एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठकर बोला—'सत्यकाम!' सत्यकामने कहा—'भगवन्! क्या आज्ञा है?' हंसने कहा—'हे सत्यकाम! मैं तुझे ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करता हूँ।' सत्यकामने कहा—'भगवन्! कृपा करके कीजिये।' पश्चात् हंसने ब्रह्मके तीसरे पादका उपदेश करके कहा—'इसका नाम ज्योतिष्मान् है। अगला उपदेश तुझे जलमुर्ग करेगा।'

रातको सत्यकाम ब्रह्मके चिन्तनमें लगा रहा, प्रातःकाल गौओंको हाँककर आगे चला और सन्ध्या होनेपर एक वटके वृक्षके नीचे ठहर गया। गौओंकी उचित व्यवस्था करके वह अग्नि जलाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया। इतनेमें एक जलमुर्गने आकर पुकारा

'सत्यकाम !' सत्यकामने उत्तर दिया 'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?' मुर्गेने कहा—'वत्स ! मैं तुझे ब्रह्मके चतुर्थ पादका उपदेश करता हूँ ।' सत्यकाम बोला—'प्रभो ! कीजिये ।' तदनन्तर जलमुर्गने आयतनवान्-रूपसे ब्रह्मका उपदेश किया ।

इस प्रकार सत्य, गुरुसेवा और गोसेवाके प्रतापसे वृषभरूप वायु, अग्निदेव, हंसरूप सूर्यदेव और मुर्गरूप प्राणदेवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर सत्यकाम एक हजार गौओंके बड़े समूहको लेकर आचार्य गौतमके घर पहुँचा । उस समय उसके मुखमण्डलपर ब्रह्मतेज छिटक रहा था, आनन्दकी सहस्र-सहस्र किरणें झलमला रही थीं । गुरुने सत्यकामकी चिन्तारहित, तेजपूर्ण दिव्य मुखकान्तिको देखकर कहा—'वत्स सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' गुरु बोले—'हे सौम्य ! तू ब्रह्मज्ञानीके सदृश दिखायी दे रहा है, वत्स ! तुझको किसने उपदेश किया ?' सत्यकामने कहा—

'भगवन् ! मुझको मनुष्येतरोंसे उपदेश प्राप्त हुआ है ।' यों कहकर उसने सारा हाल सुना दिया और कहा—'भगवन् ! मैंने सुना है कि—

भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं…… ।

'आप-सदृश आचार्यके द्वारा प्राप्त की हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है, अतएव मुझे आप ही पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये ।' गुरु प्रसन्न हो गये और उन्होंने कहा—'वत्स ! तूने जो कुछ प्राप्त किया है, यही ब्रह्मतत्त्व है । अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं रहा ।' (छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)



(६)

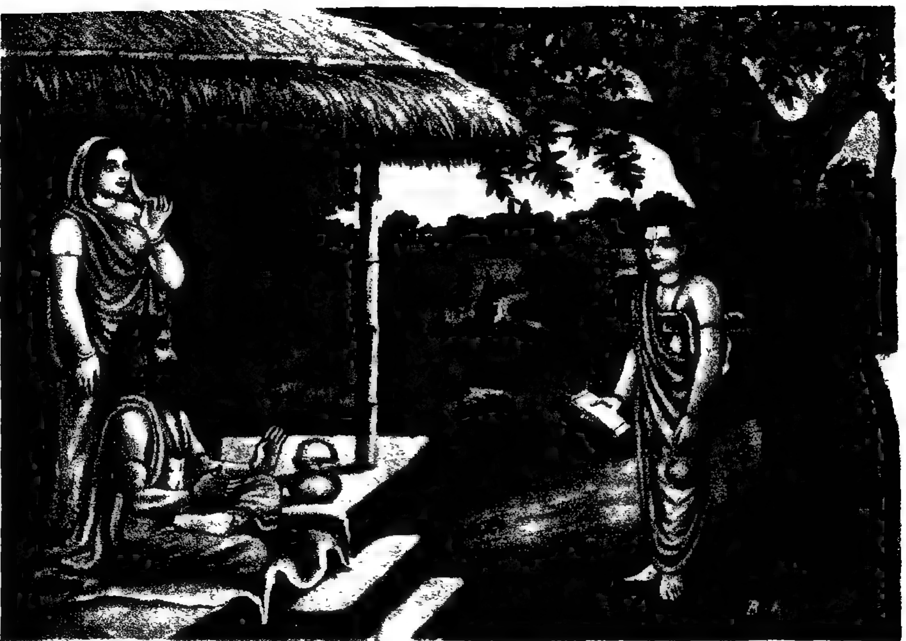
अग्निद्वारा उपदेश

कमलका पुत्र उपकोसल सत्यकाम जाबालके पास जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर रहने लगा। उसने पूरे बारह वर्षतक गुरुके अग्नियोंकी सेवा की। गुरुने अपने दूसरे शिष्य ब्रह्मचारियोंका समावर्तन (वेदाध्ययन पूर्ण करवा) कर उन्हें घर जानेकी आज्ञा दी, परन्तु उपकोसलको आज्ञा नहीं दी।

उपकोसलके मनमें कुछ विषाद हो गया, यह देखकर गुरुपत्नीके मनमें दया उपजी। उसने स्वामीसे कहा, 'इस ब्रह्मचारीने ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन किया है और श्रद्धापूर्वक विद्याध्ययन किया है और आपके अग्नियोंकी भलीभाँति सेवा की है, अतएव इसका समावर्तन करके इसकी कामना पूर्ण कीजिये। नहीं तो ये अग्नि आपको उलाहना देंगे।' सत्यकामने बात सुनी-अनसुनी कर दी और वह बिना ही कुछ कहे यात्राके लिये घरसे चले गये।

उपकोसलको इससे बहुत दुःख हुआ! वह मानसिक व्याधियोंसे दुखी हो गया और अन्न छोड़कर अनशन व्रत करने लगा। स्नेहमयी गुरुपत्नीने कहा—'हे ब्रह्मचारी! तू भोजन कर! किसलिये भोजन नहीं करता है?' उसने कहा—'मेरे मनमें अनेकों कामनाएँ हैं, मैं अनेक प्रकारके मानसिक दुःखोंसे ग्रस्त हूँ अतः मैं कुछ भी नहीं खा सकूँगा।' गुरुपत्नी चुप हो गयीं।

अग्नियोंने विचार किया कि 'इस तपस्वी ब्रह्मचारीने मन लगाकर हमारी बहुत ही सेवा की है, अतएव इसकी कामनाको हमलोग पूर्ण करें।' यह विचारकर अग्नियोंने उसे अलग-अलग ब्रह्मविद्याका यथोचित उपदेश किया! उपदेशके अनन्तर सब



उपकोशल और सत्यकाम जाबाल

अग्नियोंने मिलकर उससे कहा—'हे सौम्य उपकोसल ! हमने तुझको अग्नि तथा आत्माका यथार्थ उपदेश दिया है, अब तेरे आचार्य आकर तुझे इस विद्याके फलका उपदेश देंगे ।'

कुछ दिनों बाद गुरु यात्रासे लौट आये, उन्होंने शिष्यको पुकारा—'उपकोसल !' उसने कहा—'भगवन् !'

उपकोसलका मुख ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था, उसकी समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक प्रकाशको प्राप्त थीं, यह देखकर आचार्यने हर्षमें भरकर पूछा—'बेटा उपकोसल ! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियोंकी तरह चमक रहा है, बता, तुझको किसने ब्रह्मका उपदेश किया ?' किसी मनुष्यसे उपकोसलको उपदेश नहीं मिला था इससे उसने स्पष्ट न कहकर सांकेतिक भाषामें कहा—'भगवन् ! आपके बिना मुझे कौन उपदेश करता ? यह अग्नियाँ पहले मानों और प्रकारके-से थे, अब आपको देखकर मानों डर-से रहे हैं ।' संकेतका अर्थ समझकर आचार्यने कहा—'वत्स ! अग्नियोंने तुझे क्या उपदेश किया ।' उपकोसलने अग्नियोंसे जो कुछ प्राप्त किया था, सब कह सुनाया । सुनकर गुरु बोले—'वत्स ! इन अग्नियोंने तो तुझे लोकसम्बन्धी ही उपदेश किया है । मैं तुझको उस पूर्ण ब्रह्मका उपदेश करूँगा, जिसका साक्षात् हो जानेपर जैसे कमलके पत्तेपर जलका स्पर्श नहीं होता, वैसे ही उसपर पापका स्पर्श नहीं हो सकता ।' शिष्यने कहा—'भगवन् ! आप उपदेश करें ।'

इसके बाद आचार्यने उपकोसलको ब्रह्मका रहस्यमय सम्पूर्ण उपदेश किया । और उसका समावर्तन करके उसे घर जानेकी आज्ञा दी । (छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)



(७)

निरभिमानी शिष्य

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्विका पुत्र बुडिल ये पाँचों महाशाल अर्थात् जिनकी शालामें असंख्य विद्यार्थी पढ़ते थे ऐसी महान् शालाओंवाले महान् श्रोत्रिय यानी वेदका पठन-पाठन करनेवाले थे। एक दिन ये एकत्र होकर 'वास्तवमें आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है' इस विषयपर विचार करने लगे। परन्तु जब किसी निर्णयपर नहीं पहुँचे तब किसी दूसरे ब्रह्मवेत्ता विद्वान्के पास जाकर उनसे पूछनेका निश्चय कर आपसमें कहने लगे कि 'वर्तमान समयमें अरुणके पुत्र उद्दालक आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि सबकी राय हो तो हमको उनके पास चलना चाहिये।' सबकी राय हो गयी और वे उद्दालकके पास गये।

उद्दालकने उनको दूरसे देखते ही उनके आनेका प्रयोजन जान लिया और वे विचार करने लगे—'ये महाशाल और महान् श्रोत्रिय आते ही मुझसे पूछेंगे और मैं इनके प्रश्नोंका पूर्ण समाधान कर नहीं सकूँगा। इससे उत्तम यही है कि मैं इन्हें किसी दूसरे योग्य पुरुषका नाम बतला दूँ।' ऐसा विचारकर उद्दालकने उनसे कहा—'हे भगवन्! मैं जानता हूँ आप मुझसे आत्माके विषयमें कुछ पूछने पधारे हैं परन्तु इस समय केकयके पुत्र प्रसिद्ध राजा अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानरको भलीभाँति जानते हैं, यदि आप सबकी अनुमति हो तो हम सब उनके पास चलें।' सर्वसम्मतिसे सब राजा अश्वपतिके पास गये।



राजा अश्वपति और उद्दालक आदि ऋषि

अश्वपतिने उन छओं ऋषियों—अतिथियोंका अपने सेवकों-द्वारा यथायोग्य अलग-अलग भलीभाँति पूजन-सत्कार करवाया और दूसरे दिन प्रातःकाल राजा सोकर उठते ही उनके पास गये और बहुत-सा धन सामने रखकर विनयभावसे उसे ग्रहण करनेकी प्रार्थना करने लगे। परन्तु वे तो धनकी इच्छासे वहाँ नहीं गये थे, इससे उन्होंने धनका स्पर्श भी नहीं किया और चुपचाप बैठे रहे। राजाने सोचा, शायद ये मुझे अधर्मी या दुराचारी समझते हैं, इसीलिये मेरा धन (दूषित समझकर) नहीं लेते। यह विचारकर राजा कहने लगे—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

'हे मुनियो! मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, (क्योंकि किसीके पास किसी वस्तुका अभाव नहीं है, कारण) मेरे देशमें ऐसा कोई धनी नहीं है जो कंजूस हो यानी यथायोग्य दान न करता हो। न मेरे देशमें कोई शराब पीता है, न कोई ऐसा द्विज है जो अग्निहोत्र न करता हो, न कोई ऐसा ही व्यक्ति है जो विद्वान् न हो; और न कोई व्यभिचारी पुरुष ही मेरे देशमें है, जब पुरुष ही व्यभिचारी नहीं है तो स्त्री तो व्यभिचारिणी होगी ही कहाँसे? अतएव मेरा धन शुद्ध है, फिर आप इसे क्यों नहीं लेते?'* मुनियोंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब राजाने सोचा, शायद धन थोड़ा समझकर मुनि न लेते हों, अतएव वे फिर कहने लगे—

* राजाओंको इस आदर्शपर विचार करना चाहिये और इसीके अनुसार अपने राज्यके एक-एक पैसेको शुद्ध बनाना चाहिये।

'हे भगवन् ! मैं एक यज्ञका आरम्भ कर रहा हूँ, उस यज्ञमें मैं एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपमेंसे प्रत्येकको दूँगा । आप मेरे यहाँ ठहरिये और मेरा यज्ञ देखिये ।'

राजाकी यह बात सुनकर उन्होंने कहा—'हे राजन् ! मनुष्य जिस प्रयोजनसे जिसके पास जाता है, उसका वही प्रयोजन पूरा करना चाहिये । हमलोग आपके पास आत्मरूप वैश्वानरका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे आये हैं, क्योंकि इस समय आप ही उसको भलीभाँति जानते हैं इसलिये आप हमें वही समझाइये । हमें धन नहीं चाहिये ।'*

राजाने उनसे कहा—'हे मुनियो ! कल प्रातःकाल मैं इसका उत्तर आपको दूँगा ।' ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अभिमानका त्याग करना परम आवश्यक है, केवल मुँहसे माँगनेपर ज्ञान नहीं मिलता । वह अधिकारीको ही मिलता है । राजाके उत्तरसे मुनि इस बातको समझ गये और दूसरे दिन अभिमान त्यागकर सेवावृत्तिका परिचय देनेवाले समिधको हाथोंमें लेकर दुपहरसे पहले ही विनयके साथ शिष्यभावसे सब राजाके पास पहुँचे और जाते ही उनके चरणोंमें प्रणाम करने लगे । राजाने उनको चरणोंमें प्रणाम नहीं करने दिया, क्योंकि एक तो वे ब्राह्मण थे, और दूसरे सद्गुरु मान-बड़ाई-पूजाकी इच्छा नहीं रखते । तदनन्तर राजाने उन्हें गुरुरूपसे नहीं, किन्तु दाताके रूपसे वैश्वानररूप ब्रह्मविद्याका उपदेश किया !

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)



* इसी प्रकार जिज्ञासु साधकको किसी भी प्रलोभनमें न फँसकर अपने लक्ष्यपर दृढ़ रहना चाहिये ।



श्वेतकेतु और उसके पिता आरुणिऋषि

तत्त्वमसि

अरुणके पुत्र आरुणि उद्दालकके श्वेतकेतु नामक एक पुत्र था। वह बारह वर्षकी अवस्थातक केवल खेलकूदमें ही रहा। पिता सोचते रहे कि यह स्वयं ही विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा करे तो उत्तम है परन्तु उसने वैसी इच्छा नहीं की, तब पितासे नहीं रहा गया। उन्होंने एक दिन उसे अपने पास बुलाकर कहा—'हे वत्स श्वेतकेतो! तू जा और सुयोग्य गुरुके समीप ब्रह्मचारी होकर रह। हे सौम्य! अपने वंशमें कोई भी ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जिसने वेदोंका त्याग किया हो और जो ब्राह्मणके गुण और आचारोंसे रहित होकर केवल नामधारी ब्राह्मण बनकर रहा हो। ऐसा करना योग्य नहीं है। सारांश, तुझे वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको प्राप्त करना ही चाहिये।'

पिता आरुणिका मीठा उलाहना सुनकर श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके घर गया और पूरे चौबीस वर्षकी अवस्थातक गुरुगृहमें रहकर व्याकरणादि छः अङ्गोंसहित चारों वेदोंका पूर्ण अध्ययन करनेके पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर घर लौटा। उसने मन-ही-मन विचार किया कि 'मैं वेदका पूर्ण ज्ञाता हूँ, मेरे समान पण्डित और कोई नहीं है। मैं सर्वोपरि विद्वान् और बुद्धिमान् हूँ।' इस प्रकारके विचारोंसे उसके मनमें गर्व उत्पन्न हो गया, और वह उद्धत और विनयरहित होकर बिना ही प्रणाम किये पिताके सामने आकर बैठ गया। आरुणि ऋषि उसका नम्रतारहित औद्धत्यपूर्ण आचरण देखकर इस बातको जान गये कि इसको वेदके अध्ययनसे

बड़ा गर्व हो गया है, तो भी आरुणि ऋषिने उस अविनयी पुत्रपर क्रोध नहीं किया और कहा—'हे श्वेतकेतो ! तू ऐसा क्या पढ़ आया है कि जिससे अपनेको सबसे बड़ा पण्डित समझता है और इतना अभिमानमें भर गया है । विद्याका स्वरूप तो विनयसे ही खिलता है । अभिमानी पुरुषके हृदयसे सारे गुण तो दूर चले जाते हैं और समस्त दोष अपने-आप उसमें आ जाते हैं । तूने अपने गुरुसे यह सीखा हो तो बता, कि ऐसी कौन-सी वस्तु है कि जिस एकके सुननेसे बिना सुनी हुई सब वस्तुएँ सुनी जाती हैं, जिस एकके विचारसे बिना विचार की हुई सब वस्तुओंका विचार हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे नहीं जानी हुई सब वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है ?'

आरुणिके ऐसे वचन सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व गल गया, उसने सोचा कि 'मैं तो ऐसी किसी वस्तुको नहीं जानता । मेरा अभिमान मिथ्या है ।' वह नम्र होकर विनयके साथ पिताके चरणोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर कहने लगा—'भगवन् ! जिस एक वस्तुके श्रवण, विचार और ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका श्रवण, विचार और ज्ञान हो जाता है, उस वस्तुको मैं नहीं जानता । आप उस वस्तुका उपदेश कीजिये ।'

आरुणिने कहा—'हे सौम्य ! जैसे कारणरूप मिट्टीके पिण्डका ज्ञान होनेसे मिट्टीके कार्यरूप घट, शराव आदि समस्त वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि घट आदि कार्यरूप वस्तुएँ सत्य नहीं हैं केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल मिट्टी ही है । हे सौम्य ! जैसे कारणरूप सोनेके पिण्डका ज्ञान होनेसे सोनेके कड़े, कुण्डलादि सब कार्योंका ज्ञान हो जाता

है और यह पता लग जाता है कि ये कड़े, कुण्डलादि सत्य नहीं हैं, केवल वाणीके विकार हैं, सत्य तो केवल सोना ही है। और जैसे नख काटनेकी नहरनी आदिमें रहे हुए लोहेका ज्ञान हो जानेसे लोहेके कार्य खड्ग, परशु आदिका ज्ञान हो जाता है और यह पता लग जाता है कि वास्तवमें ये सब सत्य नहीं हैं, एक लोहा ही सत्य है, बस इसी तरह वह ज्ञान होता है।'

पिता आरुणिके यह वचन सुनकर श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी! निश्चय ही मेरे विद्वान् गुरु इस वस्तुको नहीं जानते हैं, क्योंकि यदि वे जानते होते तो मुझे बतलाये बिना कभी नहीं रहते। अतएव हे भगवन्! अब आप ही मुझको उस वस्तुका उपदेश दीजिये जिस एकके जाननेसे सब वस्तुएँ जानी जाती हैं।' आरुणिने कहा, अच्छा सावधान होकर सुन—

'हे प्रियदर्शन! यह नाम, रूप और क्रियास्वरूप दृश्यमान जगत् उत्पन्न होनेसे पहले केवल एक अद्वितीय, सत् ही था। उस सत् ब्रह्मने संकल्प किया कि 'मैं एक बहुत हो जाऊँ' ऐसा संकल्प करके उसने पहले तेज उत्पन्न किया, फिर उससे जल उत्पन्न किया और तदनन्तर उससे अन्न उत्पन्न किया। इन्हीं तीन तत्त्वोंसे सब पदार्थ उत्पन्न हुए। जगत्‌में जितनी वस्तुएँ हैं, सब तेज, जल और अन्न इन तीनोंके मिश्रणसे ही बनी हैं। जहाँ प्रकाश या गरमी है वहाँ तेजतत्त्वकी प्रधानता है, जहाँ द्रव या प्रवाही भाव है वहाँ जलकी प्रधानता है और जहाँ कठोरता है वहाँ अन्न या पृथ्वीकी प्रधानता है। अग्निमें जो लाल, श्वेत और कृष्ण वर्ण है उसमें ललाई

तेजकी, सफेदी जलकी और श्यामता पृथ्वीकी है । यही बात सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमें है । यदि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और बिजलीमेंसे तेज, जल और पृथ्वीको निकाल लिया जाय तो अग्निमें अग्निपन, सूर्यमें सूर्यपन, चन्द्रमामें चन्द्रपन और विद्युत्में विद्युत्पन कुछ भी नहीं रह जायगा । इसी प्रकार सभी वस्तुओंमें समझना चाहिये । खाये हुए अन्नके भी तीन रूप हो जाते हैं । स्थूल भाग विष्ठा बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मनरूप हो जाता है । इसी तरह जलके स्थूल भागसे मूत्र बनता है, मध्यम भागसे रक्त बनता है और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है । इसी प्रकार तैल, घृत आदि तैजस पदार्थोंके स्थूल भागसे हड्डी बनती है, मध्यम भाग मज्जारूप हो जाता है और सूक्ष्म भाग वाणीरूप होता है । अतएव मन अन्नमय है; प्राण जलमय है और वाक् तेजमय है अर्थात् मन अन्नसे बनता है, प्राण जलसे बनता है, और वाणी तेजसे बनती है ।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी ! मुझको यह विषय और साफ करके समझाइये ।' उद्दालक आरुणि बोले—हे सौम्य ! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है । जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है । असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्यकारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं । सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है । सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब

वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है, जैसे सर्पमें रज्जु कल्पित है, इसी प्रकार जगत् इस 'सत्' में कल्पित है। हे श्वेतकेतो! वह 'सत्' वस्तु तू ही है। 'तत्त्वमसि'

हे सौम्य! जैसे शहदकी मक्खी अनेक प्रकारके वृक्षोंके रसको एकत्र करके उसको एकरस करके शहदके रूपमें परिणत करती है, शहदरूपको प्राप्त रस जैसे यह नहीं जानता कि मैं आमके पेड़का रस हूँ या मैं कटहरके वृक्षका रस हूँ, इसी प्रकार सुषुप्तिकालमें जीव 'सत्' वस्तुके साथ एकीभावको प्राप्त होकर यह नहीं जानते कि हम सत्में मिल गये हैं। सुषुप्तिसे जागकर पुनः वे अपने-अपने पहलेके बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग और मच्छरके शरीरको प्राप्त हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है यही आत्मा है, यह सत् है और हे श्वेतकेतो! वह तू ही है। 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझको फिर समझाइये।' आरुणि बोले—'हे सौम्य! जैसे समुद्रके जलसे ही बादलोंके द्वारा पुष्ट हुई गंगा आदि नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही मिलकर अपने नामरूपको त्याग देती हैं, यह नहीं जानतीं कि 'मैं गंगा हूँ, मैं नर्मदा हूँ' और सर्वथा समुद्रभावको प्राप्त हो जाती हैं, और फिर मेघके द्वारा वृष्टिरूपसे समुद्रसे बाहर निकल आती हैं किन्तु यह नहीं जानतीं कि हम समुद्रसे निकली हैं। इसी प्रकार ये जीव भी 'सत्' मेंसे निकलकर सत्में ही लीन होते हैं और पुनः उसीसे

निकलते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि हम 'सत्' से आये हैं। और यहाँ वही बाघ, सिंह, वृक, शूकर, कीट, पतंग या मच्छर जो-जो पहले होते हैं वे हो जाते हैं। यह जो सूक्ष्म तत्त्व सबका आत्मा है, यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! यह सत् तू ही है!' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिरसे समझाइये।' उद्दालक आरुणिने 'तथास्तु' कहकर समझाना शुरू किया—

हे सौम्य! बड़े भारी वृक्षकी जड़पर कोई चोट करे तो वह एक ही चोटमें सूख नहीं जाता, वह जीता है और उस छेदमेंसे रस झरता है। वृक्षके बीचमें छेद करनेपर भी वह सूखता नहीं, छेदमेंसे रस झरता है, इसी प्रकार अग्रभागपर चोट करनेसे भी वह जीता है और उसमेंसे रस टपकता है। जबतक उसमें जीवात्मा व्याप्त रहता है तबतक वह मूलके द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्दसे रहता है। जब इस वृक्षकी शाखाओंमें एक शाखासे जीव निकल जाता है तब वह सूख जाती है, दूसरीसे निकलनेपर दूसरी, और तीसरीसे निकलनेपर तीसरी सूख जाती है। और जब सारे वृक्षको जीव त्याग देता है तब वह सब-का-सब सूख जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीवसे रहित होता है तभी मृत्युको प्राप्त होता है। जीव कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता, यह जीवरूप सूक्ष्म तत्त्व ही आत्मा है। यह सत् है, यही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! 'वह सत् तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक बड़ा फल तोड़कर ला! फिर

तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि बोले, 'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको फोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सौम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म भावको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सौम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! वह 'सत्' तू ही है।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझको पुनः दूसरे दृष्टान्तसे समझाइये।' उद्दालकने एक नमककी डली श्वेतकेतुके हाथमें देकर कहा—'वत्स! इस डलीको अभी जलसे भरे हुए लोटेमें डाल दे और फिर कल सवेरे उस लोटेको लेकर मेरे पास आना।' श्वेतकेतुने ऐसा ही किया। दूसरे दिन प्रातःकाल जब श्वेतकेतु जलका लोटा लेकर पिताके पास गया, तब उन्होंने कहा—'हे सौम्य! रातको जो नमककी डली लोटेमें डाली थी, उसको जलमेंसे ढूँढकर निकाल तो दे, मैं उसे देखूँ।' श्वेतकेतुने देखा, पर नमककी डली उसे नहीं मिली, क्योंकि वह तो जलमें गलकर जलरूप हो गयी थी। तब आरुणिने कहा—'अच्छा, इसमेंसे इस तरफसे थोड़ा-सा जल

चखकर बता तो कैसा है ? श्वेतकेतुने आचमन करके कहा—'पिताजी ! जल खारा है ।' आरुणि बोले—'अच्छा, अब बीचमेंसे लेकर चखकर बता ।' श्वेतकेतुने चखकर कहा—'पिताजी ! यह भी खारा है ।' आरुणिने कहा—'अच्छा ! अब दूसरी ओरसे जरा-सा पीकर बता कैसा स्वाद है ?' श्वेतकेतुने पीकर कहा—'पिताजी ! इधरसे भी स्वाद खारा ही है ।' अन्तमें पिताने कहा–'अब सब ओरसे पीकर, फिर जलको फेंक दे और मेरे पास चला आ ।' श्वेतकेतुने वैसा ही किया और आकर पितासे कहा—'पिताजी ! मैंने जो नमक जलमें डाला था, यद्यपि मैं अपनी आँखोंसे उसको नहीं देख पाता परन्तु जीभके द्वारा मुझको उसका पता लग गया है कि उसकी स्थिति उस जलमें सदा और सर्वत्र है ।' पिताने कहा—'हे सौम्य ! जैसे तू यहाँ उस प्रसिद्ध 'सत्' नमकको नेत्रोंसे नहीं देख सका तो भी वह विद्यमान है इसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है । वह सत् है और वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है ।' 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'पिताजी ! मुझे फिर उपदेश कीजिये ।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन ! जैसे चोर आँखोंपर पट्टी बाँधकर किसी मनुष्यको बहुत दूरके गान्धारदेशसे लाकर किसी जङ्गलमें निर्जन प्रदेशमें छोड़ दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओंकी ओर देख-देखकर सहायताके लिये पुकार करके कहे कि 'मुझको आँखोंपर पट्टी बाँधकर चोरोंने यहाँ लाकर छोड़ दिया है' और जैसे उसकी करुण पुकारको सुनकर कोई दयालु पुरुष दयावश उसकी आँखोंकी पट्टी खोल दे और

उससे कह दे कि 'गान्धार देश इस दिशामें है, तू इस रास्तेसे चला जा, वहाँ पहुँच जायगा।' और वह बुद्धिमान् अधिकारी पुरुष जैसे उस दयालु पुरुषके वचनोंपर श्रद्धा रखकर उसके बताये मार्गपर चलने लगता है और एक गाँवसे दूसरे गाँव पूछ-परछ करता हुआ आखिर अपने गान्धार देशको पहुँच जाता है। इसी प्रकार अज्ञानकी पट्टी बाँधे हुए काम, क्रोध, लोभादि चोरोंके द्वारा संसाररूपी भयङ्कर वनमें छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयापरवश हो बतलाये हुए मार्गसे चलकर अविद्याके फन्देसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' आत्माको प्राप्त हो जाता है। यह जो सूक्ष्म तत्त्व है, सो आत्मा है। वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह सत् आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! कृपापूर्वक मुझको फिर उपदेश कीजिये।' तब मुनि उद्दालक बोले—'सुन, जैसे कोई एक रोगी मनुष्य मरनेवाला होता है, तब उसके सम्बन्धी लोग उसे घेरकर पूछते हैं कि तुम हमें पहचानते हो या नहीं? जबतक उस रोगी जीवकी वाणीका मनमें, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममें लय नहीं हो जाता तबतक वह सबको पहचान सकता है। परन्तु जब उसकी वाणीका मनमें, मनका प्राणमें, प्राणका तेजमें और तेजका ब्रह्ममें लय हो जाता है तब वह किसीको नहीं पहचान सकता। यह जो सूक्ष्म भाव है सो आत्मा है, वह सत् है, वही आत्मा है, हे श्वेतकेतो! वह आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! कृपापूर्वक मुझे फिर समझाइये,'

तब मुनि कहने लगे—'अच्छा सुन ! एक आदमी चोरीके सन्देहमें पकड़ा जाता है, और उससे पूछा जाता है कि तैंने चोरी की या नहीं, वह अस्वीकार करता है। तब राज्यके अधिकारी जलती हुई कुल्हाड़ी लाकर उसके हाथमें देनेकी आज्ञा करते हैं, कुल्हाड़ी लायी जाती है और यदि उसने चोरी की है और झूठ बोलकर छूटना चाहता है तो आत्माको असत्यके साथ जोड़नेके कारण कुल्हाड़ीका स्पर्श होते ही उसका हाथ जल जाता है। और उसे अपराधके लिये दण्ड दिया जाता है। परन्तु यदि वह चोर नहीं होता, और सत्य ही कहता है तो आत्माको सत्यके साथ संयुक्त रखनेके कारण उसका हाथ उस कुल्हाड़ीसे नहीं जलता और वह बन्धनसे छूट जाता है।*

इस प्रकार सत्यताके कारण जलती हुई कुल्हाड़ीसे सत्यवक्ता बच जाता है, इससे सिद्ध होता है कि जीव सत् है, वह सत् है, वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा तू ही है। 'तत्त्वमसि'

इस प्रकार पिता उद्दालक आरुणिके उपदेशसे श्वेतकेतु आत्माके अपरोक्ष ज्ञानको प्राप्त होकर कृतार्थ हो गया।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)



* इस वर्णनसे पता लगता है कि प्राचीन कालमें सत्यपर कितना विश्वास था। सत्यके प्रतापसे उस सत्यमय वातावरणमें जलती हुई कुल्हाड़ी भी सत्यवक्ताके हाथ नहीं जला सकती थी, और असत्यका आश्रयी उसीसे जलकर दण्डित होता था।



इन्द्र और विरोचनको उपदेश

(९)

एक सौ एक वर्षका ब्रह्मचर्य

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ।

(छान्दो० ८ । ७ । १)

एक समय प्रजापतिने कहा कि 'आत्मा पापसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित, शोकसे रहित, क्षुधासे रहित, पिपासासे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है । उस आत्माकी खोज करनी

चाहिये। वही जानने योग्य है। जो उस आत्माको जानकर उसका अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोकोंको और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त करता है।'

प्रजापतिके इस वचनको सुनकर देवता और असुर दोनोंने आत्माको जाननेकी इच्छा की। देवताओंमें इन्द्र और असुरोंमें विरोचन प्रतिनिधि चुने गये और उन दोनोंने प्रजापतिके पास जानेका विचार किया। परस्पर द्वेषके कारण आपसमें एक दूसरे-से कुछ भी न कहकर दोनों समित्पाणि होकर विनयपूर्वक प्रजापतिके पास गये।*

दोनोंने वहाँ जाकर परस्परकी ईर्षाको भुलाकर लगातार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन किया। इसके बाद प्रजापतिने उनसे पूछा—

किमिच्छन्ताववास्तम्

'किस इच्छासे तुम दोनों यहाँ आकर रहे हो?'

उन्होंने कहा—'भगवन्! आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्यु-रहित, शोकरहित, क्षुधा और पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, वह जानने योग्य है, वही अनुभव करने योग्य है, जो उसको जानकर उसका अनुभव करता है वह सम्पूर्ण लोकों और सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त होता है। आपके ये वचन सबने

---

* यह नियम है कि—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' (मुण्डक० १।२।१२)

'शिष्यको हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये।'

सुने हैं इसीसे उस आत्माको जाननेकी इच्छासे हम लोग यहाँ आये हैं।'

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति।

प्रजापतिने कहा 'आँखोंमें यह जो पुरुष द्रष्टा अन्तर्मुखी दृष्टि-वालोंको दीखता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है।'

इन्द्र और विरोचनने अशुद्ध बुद्धि होनेके कारण इस कथन-को अक्षरशः ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया। उन्होंने समझा कि नेत्रोंमें जो मनुष्यका प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है वही आत्मा है। इसी निश्चयको दृढ़ करनेके लिये उन्होंने प्रजापतिसे फिर पूछा—'हे भगवन्! जलमें जो पुरुषका प्रतिबिम्ब दीखता है अथवा दर्पणमें शरीरका जो प्रतिबिम्ब दीखता है, इन दोनोंमेंसे आपका बतलाया हुआ ब्रह्म कौन-सा है? क्या ये दोनों एक ही हैं।' प्रजापतिने कहा 'हाँ, हाँ, वह इन दोनोंमें ही दीख सकता है। वही प्रत्येक वस्तुमें है।'

इसके बाद प्रजापतिने उनसे कहा—'जाओ! उस जलसे भरे हुए कुण्डमें देखो और यदि वहाँ आत्माको न पहचान सको तो फिर मुझसे पूछना, मैं तुम्हें समझाऊँगा।' दोनों जाकर कुण्डमें अपना प्रतिबिम्ब देखने लगे। प्रजापतिने पूछा 'तुम लोग क्या देखते हो?' उन्होंने कहा—

सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति।

'भगवन् ! नखसे लेकर शिखातक हम सारे आत्माको देख रहे हैं ।' नखसिखकी बात सुनकर ब्रह्माजीने फिर कहा—'अच्छा, तुम जाओ और शरीरोंको स्नान कराकर अच्छे-अच्छे गहने पहनो और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करो । फिर जाकर जलके कुण्डमें देखो ।' नख और केशके सदृश यह शरीर भी अनात्म है । इसी बातको समझानेके लिये प्रजापतिने यों कहा, परन्तु उन दोनोंने इस बातको नहीं समझा । वे दोनों अच्छी तरह नहा-धोकर सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालङ्कारोंसे सजकर कुण्डपर गये और उसमें प्रतिबिम्ब देखने लगे । प्रजापतिने पूछा—'क्या देखते हो ?' उन्होंने कहा—'हे भगवन् ! जैसे हमने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और आभूषण धारण किये हैं, इसी प्रकार हमारे इस आत्माने भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रालङ्कारों-को धारण किया है ।'

प्रजापतिने सोचा कि अन्तःकरणकी अशुद्धिके कारण आत्माका यथार्थ स्वरूप इनकी समझमें नहीं आया, सम्भवतः मेरे वचनोंका मनन करनेसे इनके प्रतिबन्धक संस्कारोंके दूर होनेपर इनको आत्मस्वरूपका ज्ञान हो सकेगा । यों विचारकर प्रजापतिने कहा—'यही आत्मा है, यही अविनाशी है, यही अभय है, यही ब्रह्म है ।'

प्रजापतिके वचन सुन इन्द्र और विरोचन सन्तुष्ट होकर अपने-अपने घरकी ओर चले । उनको यों ही जाते देखकर प्रजापतिने मनमें कहा—

अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्ति ।

'ये बेचारे आत्माको जाने बिना ही, साक्षात् अनुभव किये बिना ही जा रहे हैं। इन देव और असुरोंमेंसे जो कोई भी इस (प्रतिबिम्ब-आधार शरीरको ही ब्रह्म माननेके) उपनिषद्वाले होंगे, उनका तो पराभव ही होगा।'

विरोचन तो अपनेको ज्ञानी मानकर शान्त हृदयसे असुरोंके पास जा पहुँचा और 'प्रतिबिम्बके निमित्त शरीरको ही आत्मा समझकर उसने इस शरीरमें आत्मबुद्धिरूप उपनिषद्का उपदेश आरम्भ कर दिया।' उसने कहा—'प्रजापतिने शरीरको ही आत्मा बतलाया है, इसलिये यह शरीररूपी आत्मा ही पूजा करने योग्य है, यही सेवा करने योग्य है, इस जगत्में केवल इस शरीररूपी आत्माकी ही पूजा और सेवा करनी चाहिये। इसीकी सेवासे मनुष्यको दोनों लोक (दोनों लोकोंमें सुख) प्राप्त हो सकता है।'

इस देहात्मवादके कारणसे जो दान नहीं करता, सत्कार्योंमें श्रद्धा नहीं रखता तथा यज्ञादि नहीं करता, उसको आज भी असुर कहा जाता है। यह देहात्मवादी उपनिषद् असुरोंका ही चलाया हुआ है। ऐसे लोग शरीरको ही आत्मा समझकर इसे गहने, कपड़े आदिसे सजाया करते हैं। और सारा जीवन इस शरीरकी सेवा-पूजामें ही खो देते हैं। अन्तमें यही लोग मृत शरीरको भी गहने-कपड़ोंसे सजाकर ऐसा समझते हैं कि हम स्वर्गको जीत लेंगे। **'अमुं लोकं जेष्यन्तः।'**

इधर दैवी सम्पदावाले इन्द्रको स्वर्गमें पहुँचनेसे पहले ही विचार हुआ कि 'प्रजापतिने तो आत्माको अभय कहा है, परन्तु

इस प्रतिबिम्बरूप आत्माको तो अनेक भय रहते हैं । जब शरीर सजा होता है तो प्रतिबिम्ब भी सजा हुआ दीखता है, शरीरपर सुन्दर वस्त्र होते हैं तो प्रतिबिम्ब भी सुन्दर वस्त्रोंवाला दीखता है, शरीर नख-केशसे रहित साफ-सुथरा होता है तो प्रतिबिम्ब भी साफ-सुथरा दीखता है । इसी प्रकार यदि शरीर अन्धा होता है तो प्रतिबिम्ब भी अन्धा होता है, शरीर काला होता है तो प्रतिबिम्ब भी काला दीखता है, शरीर लूला-लँगड़ा होता है तो प्रतिबिम्ब भी लूला-लँगड़ा दीखता है, शरीरका नाश होता है तो प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है । इसलिये इसमें तो मैं कुछ भी आत्मस्वरूपता नहीं देखता ।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आया । प्रजापतिने इन्द्रको देखकर कहा—'इन्द्र ! तुम तो विरोचनके साथ ही शान्त हृदयसे वापस चले गये थे, अब फिर किस इच्छासे आये हो ?' इन्द्रने कहा—'भगवन् ! जैसा शरीर होता है वैसा ही प्रतिबिम्ब दीखता है, शरीर सुन्दर वस्त्रालङ्कृत और परिष्कृत होता है तो प्रतिबिम्ब भी वस्त्रालङ्कृत और परिष्कृत दीखता है । शरीर अन्ध, स्राम या अंगहीन होता है तो प्रतिबिम्ब भी वैसा ही दीखता है । शरीरका नाश होता है तो इस प्रतिबिम्ब-रूप आत्माका भी नाश होता है । अतएव इसमें मुझे कोई आनन्द नहीं दीख पड़ता ।'

प्रजापतिने इन्द्रके वचन सुनकर कहा—'हे इन्द्र ! ऐसी ही बात है । वास्तवमें प्रतिबिम्ब आत्मा नहीं है, मै तुम्हें फिर समझाऊँगा, अभी फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँ रहो ।'

इन्द्र बत्तीस वर्षतक फिर ब्रह्मचर्यके साथ गुरुके समीप रहा, तब प्रजापतिने उससे कहा—

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ।

'जो इस स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, स्वप्नमें अनेक भोग भोगता है वह आत्मा है, वही अभय है, अमृत है, वही ब्रह्म है ।'

इन्द्र शान्त हृदयसे अपनेको कृतार्थ समझकर चला परन्तु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही उसने सोचा कि 'स्वप्नके द्रष्टा आत्मामें भी दोष है । यद्यपि शरीर अन्धा होनेसे यह स्वप्नका द्रष्टा अन्धा नहीं होता, शरीरके स्राम (व्याधिपीड़ित) होनेसे यह स्राम नहीं होता, शरीरके दोषसे यह दूषित नहीं होता, शरीरके बधसे इसका बध नहीं होता तथापि यह नाश होता हुआ-सा, भागता हुआ-सा, शोकग्रस्त होता हुआ-सा और रोता हुआ सा लगता है इससे मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता ।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र हाथमें समिधा लेकर फिर प्रजापतिके समीप आया और प्रजापतिके पूछनेपर उसने अपनी शंका उनको सुनायी ।

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! ठीक यही बात है । स्वप्नका द्रष्टा आत्मा नहीं है । मैं तुम्हें फिर उपदेश करूँगा, तुम फिर बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतसे यहाँपर रहो ।'

इन्द्र तीसरी बार बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यके साथ फिर रहा। इसके बाद प्रजापतिने कहा—'जिसमें यह जीव निद्राको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार शान्त हो जानेके कारण सम्पूर्ण रीतिसे

निर्मल और पूर्ण होता है और स्वप्नका अनुभव नहीं करता, यह आत्मा है, अभय है, अमृत है, यही ब्रह्म है ।'

इन्द्र आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमें आ गया मानकर शान्त हृदयसे स्वर्गकी ओर चला परन्तु देवताओंके पास पहुँचनेके पहले ही मार्गमें विचार करनेपर उसे सुषुप्ति-अवस्थामें पड़े हुए जीवको आत्मा समझनेमें दोष दीख पड़ा । उसने सोचा कि 'सुषुप्ति-अवस्थामें आत्मा जाग्रत् और स्वप्नकी तरह 'यह मैं हूँ' ऐसा अपनेको नहीं जानता । न इन भूतोंको जानता है और उसमेंसे विनाशको ही प्राप्त होता है । यानी सुषुप्ति-अवस्थाका सुख भी निरन्तर नहीं भोग सकता अतएव इसमें भी कोई आनन्द नहीं दीखता ।'

इस प्रकार विचारकर इन्द्र समित्पाणि होकर चौथी बार फिर प्रजापतिके पास आया । उसे देखकर प्रजापतिने कहा—'तुम तो शान्त हृदयसे चले गये थे, लौटकर कैसे आये ?' इन्द्रने कहा—'भगवन् ! इस सुषुप्तिमें स्थित यह आत्मा जाग्रत् और स्वप्नमें जैसे अपनेको जानता है वैसा वहाँ 'यह मैं हूँ' यों नहीं जानता, इन भूतोंको भी नहीं जानता और इस अवस्थामेंसे इसका विनाश-सा भी होता है अतएव मैं इसमें भी कोई आनन्द नहीं देखता ।'

प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! ठीक है । सुषुप्तिमें पड़ा हुआ जीव वास्तवमें आत्मा नहीं है । मैं तुम्हें फिर इसी आत्माका ही उपदेश करूँगा, किसी दूसरे पदार्थका नहीं । तुम यहाँ पाँच सालतक फिर ब्रह्मचर्यव्रतसे रहो ।'

तीन बार बत्तीस-बत्तीस वर्षका ब्रह्मचर्यव्रत पालन करनेपर भी प्रतिबन्धकरूप तनिक-से भी हृदयके मलको नाश करके प्रकृत अधिकारी बनानेके हेतुसे फिर पाँच वर्ष ब्रह्मचर्यके लिये प्रजापतिने आज्ञा दे दी। पूरे एक सौ एक वर्षतक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कर चुकनेपर प्रजापतिने कहा—'इन्द्र ! यह शरीर मर्त्य है, सर्वदा मृत्युसे ग्रस्त है, तो भी यह अमृतरूप तथा अशरीरी आत्माका अधिष्ठान (रहने और भोगादि भोगनेका स्थान) है। यह अशरीरी आत्मा जब अविवेकसे सशरीर अर्थात् शरीरमें आत्मभाव रखनेवाला होता है, तभी सुख-दुःखसे ग्रस्त होता है। जहाँतक देहात्मबोध रहता है वहाँतक सुख-दुःखसे छुटकारा नहीं मिल सकता। विज्ञानसे जिसका देहात्मभाव नष्ट हो गया है उस अशरीरीको निःसन्देह सुख-दुःख कभी स्पर्श नहीं कर सकते।' इसके बाद वायु, अभ्र और विद्युदादिका दृष्टान्त देते हुए अन्तमें प्रजापतिने कहा, 'इस शरीरमें जो मैं देखता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और नेत्र उसके रूपके ज्ञानका साधन है; जो इस गन्धको मैं सूँघता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और गन्धके ज्ञानके लिये नासिका है; जो मैं इस वाणीका उच्चारण करता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके उच्चारणके लिये वाणी है; जो मैं सुनता हूँ ऐसे जानता है वह आत्मा है और उसके श्रवणके लिये श्रोत्र हैं; जो जानता है कि मैं आत्मा हूँ वह आत्मा है और मन उसका दैवी चक्षु है। अपने स्वस्वरूपको प्राप्त वह मुक्त इस अप्राकृत चक्षुरूपी मनके द्वारा इन भोगोंको देखता हुआ आनन्दको प्राप्त होता है।' यही आत्मतत्त्व है।

इन्द्र आनन्दमें मग्न हो गया और देवलोकमें लौटकर उसने देवताओंको इस आत्माका उपदेश किया। देवताओंने इस आत्माकी उपासना की। इसीसे उन्हें सर्वलोक और सम्पूर्ण भोगोंकी प्राप्ति हुई। जो इस आत्माको भलीभाँति जानकर इसका साक्षात्कार करता है, वही सर्वलोक और सम्पूर्ण आनन्दको प्राप्त होता है *।

(छान्दोग्य उपनिषद्के आधारपर)



---

* इस प्रकारकी तीव्र जिज्ञासा और अटल श्रद्धा होनेपर ही ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपकी उपलब्धि हुआ करती है। स्वर्गके विशाल भोगोंको छोड़कर लगातार एक सौ एक वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करनेके अनन्तर देवराज इन्द्रको प्रजापति यथार्थ उपदेश करते हैं और तभी उन्हें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। आजकल लोग बिना ही श्रद्धा और साधनके अनायास मुफ्तमें ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेना चाहते हैं। गुरुको खोजने और उसके समीप जानेकी भी आवश्यकता नहीं समझते। इसी कारण जैसे-के-तैसे रह जाते हैं। प्रथम तो गुरु मिलते नहीं, मिलते हैं तो विषयान्ध मनुष्य उन्हें पहचानते नहीं। बिना पहचाने और बिना ही पूछे यदि सत्पुरुष अपनी स्वाभाविक दयासे कुछ उपदेश कर देते हैं तो श्रद्धाके अभावसे वह ग्रहण नहीं किया जाता। वास्तवमें अनधिकारीको बिना पूछे उपदेश देनेका कोई महत्त्व नहीं रहता, इसीसे महात्मा लोग बिना पूछे प्रायः कुछ कहा भी नहीं करते। इन सब बातोंपर विचार करके जिन लोगोंको दुःखोंसे सर्वदा मुक्त होनेकी अभिलाषा है उनको चाहिये कि ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर श्रद्धा और भक्तिसमन्वित हृदयसे सद्गुरु और शास्त्रोंकी शरण लें एवं तर्कसे सदा बचे रहकर विश्वासपूर्वक उनकी आज्ञानुसार लक्ष्यका अनुसन्धान करके उसीमें चित्तकी वृत्तियोंको विलीन कर दें।



देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

(१०)

तीन बार 'द'

एक समय देवता, मनुष्य और असुर सबके पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके पास शिष्य-भावसे विद्या सीखने गये, एवं नियमपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए उनकी सेवा करने लगे। इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर उन्होंने उपदेश ग्रहण करना चाहा। सबसे पहले देवताओंने जाकर प्रजापतिसे प्रार्थना की 'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उत्तरमें एक ही अक्षर कह दिया 'द'। स्वर्गमें भोगोंकी भरमार है, भोग ही देवलोकका सुख माना गया है, कभी वृद्ध न होकर देवगण सदा इन्द्रिय-भोगोंमें लगे रहते हैं, अपनी इस अवस्थापर विचारकर देवताओंने 'द' का अर्थ 'दमन'—इन्द्रिय-संयम समझा और अपनेको कृतकृत्य मानकर प्रजापतिको प्रणामकर वे वहाँसे चलने लगे। प्रजापतिने पूछा 'क्यों, मेरे उपदेश किये हुए अक्षरका अर्थ तो तुम समझ गये न?' देवताओंने कहा 'जी, समझ गये, आपने हम विलासियोंको इन्द्रिय-दमन करनेकी आज्ञा की है।' प्रजापतिने कहा 'तुमने ठीक समझा, मेरे 'द' कहनेका यही अर्थ था। जाओ, परन्तु मेरे उपदेशके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

तदनन्तर मनुष्योंने प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' प्रजापतिने उनको भी वही 'द' अक्षर सुना दिया। मनुष्योंने विचार किया हम कर्मयोनि होनेके कारण सदा लोभवश कर्म करने और अर्थ-संग्रह करनेमें ही लगे रहते हैं।

इसलिये प्रजापतिने हम लोभियोंको 'दान' करनेका उपदेश किया है। यह निश्चय कर वे अपनेको सफलमनोरथ मानकर चलने लगे, तब प्रजापतिने उनसे पूछा 'तुमलोग मेरे कथनका अर्थ समझकर जा रहे हो न?' संग्रहप्रिय मनुष्योंने कहा 'जी हाँ, समझ गये, आपने हमें दान करनेकी आज्ञा दी है।' यह सुनकर प्रजापति प्रसन्न होकर बोले—'हाँ, मेरे कहनेका यही अर्थ था, तुमने ठीक समझा है। अब इसके अनुसार चलना, तभी तुम्हारा कल्याण होगा।'

इसके पश्चात् असुरोंने प्रजापतिके पास जाकर प्रार्थना की 'भगवन्! हमें उपदेश कीजिये।' इनको भी प्रजापतिने 'द' अक्षरका ही उपदेश किया। असुरोंने समझा, 'हम लोग स्वभावसे ही हिंसावृत्तिवाले हैं, क्रोध और हिंसा हमारा नित्यका व्यापार है, अतएव प्रजापतिने हमें इस दुष्कर्मसे छुड़ानेके लिये कृपा करके जीवमात्रपर दया करनेका ही उपदेश दिया है।' यह विचारकर वे जब चलनेको तैयार हुए तब प्रजापतिने यह सोचकर कि ये लोग मेरे उपदेशका अर्थ समझे या नहीं, उनसे पूछा 'तुम जा रहे हो, परन्तु बताओ, मैंने तुम्हें क्या करनेको कहा है?' तब हिंसाप्रिय असुरोंने कहा 'देव! आपने हम हिंसकोंको 'द' कहकर प्राणिमात्रपर 'दया' करनेकी आज्ञा की है। यह सुनकर प्रजापतिने कहा 'वत्स! तुमने ठीक समझा, मेरे कहनेका यही तात्पर्य था। अब तुम द्वेष छोड़कर प्राणिमात्रपर दया करना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

देव दनुज मानव सभी लहैं परम कल्यान।
पालैं जो 'द' अर्थको दमन दया अरु दान॥

(बृहदारण्यक उपनिषद्के आधारपर)





याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

(११)

परम धन

महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं । एकका नाम था मैत्रेयी और दूसरीका कात्यायनी । दोनों ही सदाचारिणी और पतिव्रता थीं परन्तु इन दोनोंमें मैत्रेयी तो परमात्माके प्रति अनुरागिणी थीं और कात्यायनीका मन संसारके भोगोंमें रहता था । महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीको अपने पास बुलाकर कहा कि 'हे मैत्रेयी ! मैं अब इस गृहस्थाश्रमको छोड़कर संन्यास ग्रहण

करना चाहता हूँ । तुम दोनों मेरे पीछेसे आपसमें झगड़ा न कर सुखपूर्वक रह सको इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम दोनोंको घर-की सम्पत्ति आधी-आधी बाँट दूँ ।'

स्वामीकी बात सुनकर मैत्रेयीने अपने मनमें सोचा कि 'मनुष्य अपने पासकी किसी वस्तुको तभी छोड़नेको तैयार होता है जब उसको पहलीकी अपेक्षा कोई अधिक उत्तम वस्तु प्राप्त होती है । महर्षि घर-बारको छोड़कर जा रहे हैं अतएव इनको भी कोई ऐसी वस्तु मिली होगी, जिसके सामने घर-बार सब तुच्छ हो जाते हैं, अवश्य ही इनके जानेमें कोई ऐसा बड़ा कारण होना चाहिये ।' और वह परम वस्तु जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति लाभकर अमृतत्वको—परमात्माको पाना ही है । यों विचारकर मैत्रेयीने कहा—'भगवन् ! मुझे यदि धनधान्यसे परिपूर्ण समस्त पृथ्वी मिल जाय तो क्या उससे मैं अमृतत्वको पा सकती हूँ ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, नहीं ! धनसहित पृथ्वीकी प्राप्तिसे तेरा धनिकोंका-सा जीवन हो सकता है, परन्तु उससे अमृतत्व कभी नहीं मिल सकता !' मैत्रेयीने कहा—

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति । (बृह० २ । ४ । ३)

'जिससे मेरा मरना न छूटे, उस वस्तुको लेकर क्या करूँ ! हे भगवन् ! आप जो जानते हैं (जिस परम धनके सामने आपको यह घर-बार तुच्छ प्रतीत होता है और बड़ी प्रसन्नतासे आप सबका त्याग कर रहे हैं) वही परम धन मुझको बतलाइये ।'

याज्ञवल्क्यने कहा—

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥

(बृह० २ । ४ । ४)

'मैत्रेयी ! पहले भी तू मुझे बड़ी प्यारी थी, तेरे इन वाक्योंसे वह प्रेम और भी बढ़ गया है । तू मेरे पास आकर बैठ, मैं तुझे अमृतत्वका उपदेश करूँगा । मेरी बातोंको भलीभाँति सुनकर उनका मनन कर !' इतना कहकर महर्षि याज्ञवल्क्यने प्रियतम-रूपसे आत्माका वर्णन आरम्भ किया । उन्होंने कहा—

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ।

'मैत्रेयी ! (स्त्रीको) पति पतिके प्रयोजनके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु आत्माके प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है ।'

इस आत्मा शब्दका अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है, कुछ कहते हैं कि आत्मासे यहाँपर शरीरका लक्ष्य है । यह शिश्नोदरपरायण पामर पुरुषोंका मत है । कुछ कहते हैं कि जब-तक अन्दर जीव है तभीतक संसार है, मरनेके बाद कुछ भी नहीं; इसलिये यहाँ इसी जीवका लक्ष्य है । यह पुनर्जन्म न माननेवाले जडवादियोंका मत है । कुछ लोग 'आत्माके लिये' का अर्थ करते हैं कि जिस वस्तु या जिस सम्बन्धीसे आत्माकी उन्नति हो, आत्मा अपने स्वरूपको पहचान सके वही प्रिय है ।* इसीलिये कहा

---

* गोसाईं तुलसीदासजीने सम्भवतः ऐसे ही विचारको लक्ष्यमें रखकर भक्तकी दृष्टिसे कहा है कि—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥

गया है कि 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' यह तीव्र मुमुक्षु पुरुषोंका मत है ।

कुछ तत्त्वज्ञोंका मत है कि आत्माके लिये इस अर्थमें कहा गया है कि इसमें आत्मतत्त्व है, यह आत्माकी एक मूर्ति है । मित्रकी मूर्तिको कोई उस मूर्तिके लिये नहीं चाहता परन्तु चाहता है मित्रके लिये । संसारकी समस्त वस्तुएँ इसीलिये प्रिय हैं कि उनमें केवल एक आत्मा ही व्यापक है या वे आत्माके ही स्वरूप हैं । महर्षि याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति, न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति, न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति, न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति, न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु

तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बंधु भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजबनितन्हि भये मुद-मंगलकारी ॥
नाते नेह रामको मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँख जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद एतो मतो हमारो ॥

(बिनयपत्रिका)

कामाय देवाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति, न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति, न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

(बृह० २।४।५)

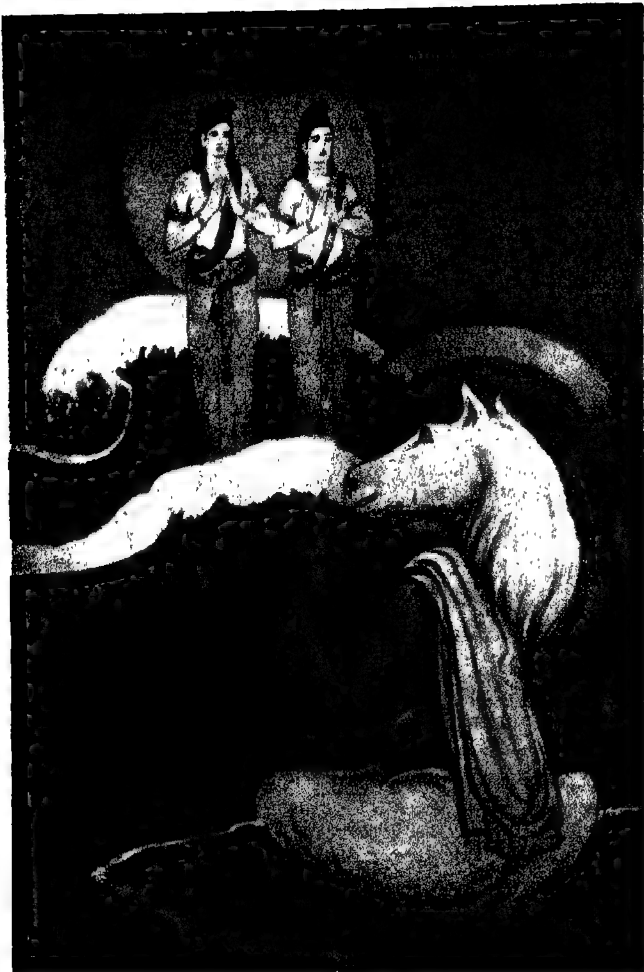
'अरे, स्त्री स्त्रीके लिये प्रिय नहीं होती परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होती है, पुत्र पुत्रोंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु वे आत्माके लिये होते हैं, धन धनके लिये प्यारा नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, ब्राह्मण ब्राह्मणके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, क्षत्रिय क्षत्रियके लिये प्रिय नहीं होता परन्तु वह आत्माके लिये प्रिय होता है, लोक लोकोंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, देवता देवताओंके लिये प्रिय नहीं होते परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, वेद वेदोंके लिये प्रिय नहीं हैं परन्तु आत्माके लिये प्रिय हैं, भूत भूतोंके लिये प्रिय नहीं हैं परन्तु आत्माके लिये प्रिय होते हैं, अरे मैत्रेयी! सब कुछ उनके लिये ही प्रिय नहीं होते परन्तु सब आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं। यह परम प्रेमका स्थान आत्मा ही वास्तवमें दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निरन्तर ध्यान करने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके दर्शन-श्रवण-मनन और साक्षात्कारसे ही सब कुछ जाना जा सकता है।' यही ज्ञान है।

इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्यजीने सबका आत्माके साथ अभिन्न रूप बतलाते हुए इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें अधिष्ठान बतलाया और तदनन्तर ब्रह्मकी अखण्ड एकरस सत्ताका वर्णनकर अन्तमें कहा कि 'जबतक द्वैतभाव होता है तभीतक दूसरा दूसरेको देखता है; दूसरा दूसरेको सूँघता है; दूसरा दूसरेको सुनता है; दूसरा दूसरेसे बोलता है; दूसरा दूसरेके लिये विचार करता है और दूसरा दूसरेको जानता है, परन्तु जब सर्वात्मभाव प्राप्त होता है, जब समस्त वस्तुएँ आत्मा ही हैं ऐसी प्रतीति होती है तब वह किससे किसको देखे ? किससे किसको सूँघे ? किससे किसके साथ बोले ? किससे किसका स्पर्श करे तथा किससे किसको जाने ? जिससे वह इन समस्त वस्तुओंको जानता है उसे वह किस तरह जाने ?'

वह आत्मा अग्राह्य है इससे उसका ग्रहण नहीं होता; वह अशीर्य है इससे वह शीर्ण नहीं होता; वह असङ्ग है इससे कभी आसक्त नहीं होता; वह बन्धनरहित है इससे कभी दुखी नहीं होता और उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसे सर्वात्मरूप, सबके जाननेवाले आत्माको किस तरह जाने ? श्रुतिने इसीलिये उसे 'नेति' 'नेति' कहा है, वह आत्मा अनिर्वचनीय है। मैत्रेयी! बस, तेरे लिये यही उपदेश है, यही तो मोक्ष है।

इतना कहकर याज्ञवल्क्यजीने संन्यास ले लिया और वैराग्यके प्रताप तथा ज्ञानकी उत्कट पिपासाके कारण स्वामीके उपदेशसे मैत्रेयी परम कल्याणको प्राप्त हुई। (बृहदारण्यक उपनिषद्के आधारपर)





अश्विनीकुमारोंको उपदेश

(१२)

घोड़ेके सिरसे उपदेश

अश्विनीकुमार देवलोकके चिकित्सक हैं । इन्होंने दैव-अथर्वण ऋषिके शिष्य दध्यङ् अथर्वण ऋषिसे वेदाध्ययन किया था। दध्यङ् ऋषि ब्रह्मज्ञानी थे परन्तु वैराग्यादि साधनोंके अभावमें अश्विनी-कुमारोंको अनधिकारी समझकर उन्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं किया था। विद्याके अभिमानमें एक समय अश्विनीकुमारोंने इन्द्रका अपमान किया तब इन्द्रने इन्हें यज्ञभागसे बहिष्कृत कर दिया। तबसे इनको किसी भी यज्ञमें भाग मिलना बन्द हो गया। इन्होंने नाराज होकर गुरु दध्यङ् ऋषिसे इन्द्रसे लड़कर उसे जीतने अथवा ओषधि आदिके द्वारा इन्द्रका विनाश करनेकी आज्ञा चाही। दध्यङ् ऋषि महान् पुरुष थे, उन्होंने काम-क्रोधादिकी निन्दा

करते हुए अश्विनीकुमारोंको अन्यान्य उपायोंसे सफलता प्राप्त करनेकी आज्ञा दी और यह कहा कि तुम लोग यदि हृदयके अभिमान कामक्रोधादि दोषोंसे रहित और वैराग्ययुक्त होकर मुझसे पूछोगे तो मैं तुम्हें अधिकारी पाकर दुर्लभ ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा। पश्चात् गुरुकी आज्ञासे अश्विनीकुमारोंने च्यवन ऋषिके नेत्र अच्छे कर दिये और च्यवनजीने अपने तपोबलसे उन्हें यज्ञमें अधिकार दिलवा दिया। इस प्रकार बिना ही लड़ाईके अश्विनीकुमारोंका मनोरथ सिद्ध हो गया।

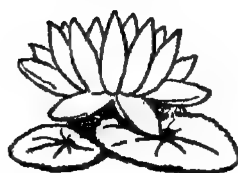
एक समय इन्हीं दध्यङ् ऋषिके आश्रममें इन्द्र आया। अतिथिवत्सल ऋषिने इन्द्रसे कहा कि 'आप मेरे अतिथि हैं जो कुछ कहिये सो मैं करूँ।' इन्द्रने कहा—'मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' दध्यङ् ऋषि दुविधामें पड़ गये। वचन देकर नहीं करते हैं तो वाणी असत्य होती है, और उपदेशके योग्य अधिकारी इन्द्र है नहीं। आखिर उन्होंने वचनको सत्य रखनेके लिये उपदेश देनेका निश्चय किया, और भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। उपदेश करते समय ऋषिने प्रसंगवश भोगोंकी निन्दा की, और भोगदृष्टिसे इन्द्रको और एक कुत्तेको एक-सा सिद्ध किया। इन्द्र ब्रह्मविद्याका अधिकारी तो था ही नहीं, स्वर्गादि भोगोंकी निन्दा सुनकर उसे क्रोध आ गया, और उसने दध्यङ् ऋषिपर कई तरहसे सन्देह करके निन्दा, शाप और हत्याके डरसे उन्हें मारनेकी इच्छा तो छोड़ दी परन्तु उनसे यह कहा कि यदि आप इस ब्रह्मविद्याका उपदेश किसी दूसरेको करेंगे तो मैं उसी क्षण वज्रसे आपका सिर उतार लूँगा।'

क्षमाशील ऋषिने शान्तहृदयसे इन्द्रकी बात सुनकर बिना ही किसी क्षोभ या क्रोधसे उससे कहा, 'अच्छी बात है, हम किसीको उपदेश करें तब सिर उतार लेना।' इस बर्तावका इन्द्रपर प्रभाव पड़ा और वह शान्त होकर स्वर्गको लौट गया।

कुछ दिनों बाद अश्विनीकुमारोंने वैराग्यादि साधनोंसे सम्पन्न होकर ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गुरुके चरणोंमें उपस्थित होकर अपनी इच्छा जनायी और ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये प्रार्थना की। इसपर सत्यपरायण दध्यङ्ने सोचा कि 'इनको उपदेश न देनेसे मेरा वचन असत्य होगा और उपदेश करनेपर इन्द्र मेरा सिर उतार लेगा। वचन असत्य होनेकी अपेक्षा मर जाना उत्तम है। प्रतिज्ञा-भंग और असत्यका जो महान् दोष होता है उसके सामने मृत्यु क्या चीज़ है। शरीरका नाश तो एक दिन होगा ही।' यह विचारकर उन्होंने उपदेश देना निश्चय कर लिया और अश्विनीकुमारोंको इन्द्रके साथ जो बातचीत हुई थी वह कहकर सुना दी। अश्विनीकुमारोंने पहले तो कहा कि 'भगवन्! आप हम लोगोंको अब कैसे उपदेश देंगे। क्या आपको इन्द्रके वज्रसे मरनेका डर नहीं है?' परन्तु जब दध्यङ् ऋषिने कर्मवश शरीरधारीके मृत्युकी निश्चयता, परमार्थरूपसे निःसारता और सत्यकी श्रेष्ठता सिद्ध कर दी तब अश्विनीकुमारोंने कहा, 'भगवन्! आप किञ्चित् भी भय न करें। हम एक कौशल करते हैं, जिससे न आपकी मृत्यु होगी और न हमें ब्रह्मविद्यासे वञ्चित होना पड़ेगा।

हम पृथक्-पृथक् हुए अंगोंको जोड़कर जीवित करनेकी विद्या जानते हैं। पहले हम इस घोड़ेका सिर उतारते हैं, फिर आपका सिर उतारकर इस घोड़ेकी धड़पर रख देते हैं और घोड़ेका सिर आपके धड़से जोड़ देते हैं। आप घोड़ेके सिरसे हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये। फिर जब इन्द्र आकर आपका घोड़ेवाला सिर काट देगा तब हम पुनः उसका सिर उतारकर आपके धड़से जोड़ देंगे और इन्द्रके द्वारा काटा हुआ घोड़ेका सिर घोड़ेकी धड़से जोड़ देंगे। न घोड़ा ही मरेगा और न आपको ही कुछ होगा।' दध्यङ् ऋषिने इस प्रस्तावको स्वीकार करके उन्हें भलीभाँति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। जब इन्द्रको इस बातका पता लगा तो इन्द्रने आकर वज्रसे दध्यङ् ऋषिके धड़से जोड़ा हुआ घोड़ेका सिर काट डाला। पश्चात् अश्विनीकुमारोंने संजीवनी विद्याके प्रभावसे घोड़ेकी धड़से जुड़ा हुआ ऋषिका सिर उतारकर उनकी धड़से जोड़ दिया और घोड़ेकी धड़पर घोड़ेका सिर रखकर उसे जोड़ दिया। दोनों जीवित हो गये।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद्के आधारपर)





याज्ञवल्क्य और गार्गी

(१३)

सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ

एक समय प्रसिद्ध विदेह राजा जनकने बहुदक्षिण नामक बड़ा यज्ञ किया। यज्ञमें कुरु और पाञ्चाल आदि देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए। जनक राजाने ब्राह्मणोंको बहुत दक्षिणा दी; अन्तमें 'इन ब्राह्मणोंमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता कौन है' यह जाननेकी इच्छासे जनक अपनी गोशालामेंसे एक हजार गौएँ निकालकर प्रत्येक गायके दोनों सींगोंमें दस-दस सोनेकी मुहरें बाँध दी और ब्राह्मणोंसे कहा कि 'हे पूजनीय ब्राह्मणो! आप लोगोंमें जो ब्रह्मिष्ठ हों वे इन गायोंको अपने घर ले जायँ।' परन्तु किसी भी ब्राह्मणका उन्हें ले जानेका साहस नहीं हुआ। अन्तमें महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य ब्रह्मचारीसे कहा कि 'हे प्रियदर्शन! हे सामश्रवा! (सामवेदके अध्ययन करनेवाले) इन गायोंको अपने घर ले चल।' गुरुके इन वचनोंको सुनकर शिष्य उन गौओंको हाँककर गुरुके घरकी ओर ले जाने लगा। यह देखकर सभामें बैठे हुए ब्राह्मणोंको इस बातपर बड़ा क्रोध हुआ कि 'हम लोगोंके सामने 'मैं ब्रह्मिष्ठ हूँ' ऐसा याज्ञवल्क्य कैसे कह सकता है!'

महाराजा जनकके होता ऋत्विज् अश्वलने आगे बढ़कर याज्ञवल्क्यसे पूछा—

त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसि ।

'हे याज्ञवल्क्य ! क्या तुम्हीं हम सबमें ब्रह्मिष्ठ हो ?' यद्यपि ये शब्द अपमानजनक थे परन्तु याज्ञवल्क्यने इस उद्धतपनसे कुछ भी विकारको न प्राप्त होकर नम्रताके साथ उत्तर दिया—

नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयं स्म ।

'भाई ! ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं । हमें तो गौओं-की चाह है । इसीलिये हमने गौएँ ली हैं ।'

ब्रह्मनिष्ठाभिमानी अश्वल याज्ञवल्क्यको नीचा दिखानेके लिये उनसे एकके बाद एक बड़े-बड़े जटिल प्रश्न पूछने लगा । याज्ञवल्क्य सबका उत्तर तुरन्त ही देते गये । इसके बाद ऋतभाग-पुत्र आर्तभाग, लह्यपुत्र भुज्यु, चक्रपुत्र उशस्त, कुषीतकपुत्र कहोल, वचक्नुपुत्री गार्गी और अरुणपुत्र उद्दालकने कई गम्भीर प्रश्न किये और याज्ञवल्क्यसे तुरन्त उनका उत्तर पाया । सब ब्राह्मण थक गये, तब अन्तमें गार्गीने आगे बढ़कर सब ब्राह्मणोंसे कहा, 'हे पूज्य ब्राह्मणो ! यदि आपकी अनुमति हो तो मैं इस याज्ञवल्क्यसे दो प्रश्न फिर करना चाहती हूँ । यदि उन दो प्रश्नोंका उत्तर यह दे सका तो फिर मैं यह मान लूँगी कि आपमेंसे कोई भी इस ब्रह्मवादीको नहीं जीत सकेंगे ।' ब्राह्मणोंने कहा 'गार्गी ! पूछ !'

गार्गीने गम्भीर स्वरसे कहा 'हे याज्ञवल्क्य ! जैसे वीरपुत्र

विदेहराज या काशिराज उतारी हुई डोरीके धनुषपर फिरसे डोरी चढ़ाकर शत्रुको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो बाणोंको हाथमें लेकर शत्रुके सामने खड़ा होता है, इसी प्रकार मैं दो प्रश्नोंको लेकर तुम्हारे सामने खड़ी हूँ, तुम यदि ब्रह्मवेत्ता हो तो इन प्रश्नोंका उत्तर मुझे दो।' याज्ञवल्क्यने कहा 'गार्गी! पूछ!' गार्गी बोली—

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति। (बृह० ३।८।३)

'हे याज्ञवल्क्य! जो ब्रह्माण्डसे ऊपर है, जो ब्रह्माण्डसे नीचे है और जो इस स्वर्ग और पृथिवीके बीचमें स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है, ऐसा शास्त्र जाननेवाले लोग कहते हैं, वह 'सूत्रात्मा' (जगद्रूप सूत्र) किसमें ओतप्रोत है?'

याज्ञवल्क्यने कहा—

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति। (बृह० ३।८।४)

'हे गार्गी! जो स्वर्गसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो स्वर्ग और पृथिवीके बीचमें स्थित है, तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यरूप है ऐसा शास्त्रवेत्तागण कहते हैं वह व्याकृत (विकृतिको प्राप्त कार्यरूप स्थूल) जगद्रूप सूत्र अन्तर्यामीरूप आकाशमें ओतप्रोत है।' इस उत्तरको सुनकर गार्गीने कहा 'हे याज्ञवल्क्य! तुमने मेरे इस प्रश्नका ऐसा स्पष्ट उत्तर दिया,

इसके लिये तुम्हें नमस्कार है। अब दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाओ!' याज्ञवल्क्यने सरलतासे कहा 'गार्गी! पूछ।'

गार्गीने एक बार उसी प्रश्नोत्तरको फिरसे दोहराकर याज्ञवल्क्यसे कहा—

कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति।

'हे याज्ञवल्क्य! तुम कहते हो व्याकृत जगद्रूप सूत्रात्मा तीनों कालोंमें सर्वदा अन्तर्यामीरूप आकाशमें ओतप्रोत है' तो वह आकाश किसमें ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्यने कहा—

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। (बृह० ३।८।८)

'हे गार्गी! अन्तर्यामीरूप अव्याकृतका अधिष्ठान यही वह अक्षर है, इस अविनाशी शुद्ध ब्रह्मका वर्णन ब्रह्मवेत्तागण इस प्रकार करते हैं—यह स्थूलसे भिन्न, सूक्ष्मसे भिन्न, ह्रस्वसे भिन्न, दीर्घसे भिन्न, लोहितसे भिन्न, स्नेहसे (चिकनाहटसे) भिन्न, प्रकाशसे भिन्न, अन्धकारसे भिन्न, वायुसे भिन्न, आकाशसे भिन्न, संगरहित, रसरहित, गन्धरहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, प्राणरहित, मुखरहित, परिमाणरहित, छिद्ररहित और देश, काल, वस्तु आदि परिच्छेदसे रहित सर्व-

व्यापी अपरिच्छिन्न है, वह कुछ भी खाता नहीं और उसे भी कोई खाता नहीं, इस प्रकार वह सब विशेषणोंसे रहित एक ही अद्वितीय है।

इस प्रकार समस्त विशेषणोंका ब्रह्ममें निषेध करके अब उसका नियन्तापन बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः। (बृह० ३।८।९)

हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा यह नियमितरूपसे बर्तते हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे ही स्वर्ग और पृथिवी हाथमें रक्खे हुए पाषाणकी तरह मर्यादामें रहते हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञामें रहकर ही निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर इस कालके अवयवोंकी गणना करनेवाले सेवककी तरह नियमितरूपसे आते जाते हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षरके शासनमें रहकर ही पूर्ववाहिनी गङ्गा आदि नदियाँ श्वेत हिमालय आदि पहाड़ोंमेंसे निकलकर समुद्रकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी सिन्धु आदि और अन्यान्य दिशाओंकी ओर बहती हुई दूसरी

नदियाँ इसी अक्षरके नियन्त्रणमें आजतक वैसे ही बहती हैं। हे गार्गी! इस प्रसिद्ध अक्षरकी आज्ञासे मनुष्य दाताओंकी प्रशंसा करते हैं और इन्द्रादि देवगण, यजमान और पितृगण दर्वीके अनुगत हैं अर्थात् देवता यजमानद्वारा किये हुए यज्ञसे और पितृगण उनके लिये किये जानेवाले होममें घी डालनेकी चमचीसे यानी उस होमसे पुष्ट होते हैं।

इसके बाद याज्ञवल्क्य फिर बोले—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति। यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः। (बृह० ३। ८। १०)

हे गार्गी! इस अक्षरको बिना जाने यदि कोई पुरुष इस लोकमें हजारों वर्षोंतक देवताओंको उद्देश्य करके यज्ञ करता है, व्रतादि तप करता है तो भी उस कर्मका फल तो अन्तवाला ही होता है। अर्थात् फल देकर वह कर्म नष्ट हो जाता है, वह अक्षय परम कल्याणको प्राप्त नहीं होता।*

---

* अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥
(गीता ७। २३)

परमात्माको न जाननेवाले उन अल्पबुद्धिजनोंका वह फल नाशवान् है और वे (भेदभावसे) देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं (परन्तु) मेरे (भगवान्‌के) भक्त (किसी प्रकारसे भी भजनेवाले अन्तमें) मुझको (भगवान्‌को) ही प्राप्त होते हैं।

हे गार्गी ! जो पुरुष इस अक्षरको नहीं जानकर (भगवत्प्राप्ति होनेसे पूर्व ही) इस लोकमें मृत्युको प्राप्त होता है वह (विचारा) कृपण (दीन, दयाके योग्य) है और हे गार्गी ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकमें मरणको प्राप्त होता है वह ब्राह्मण (ब्रह्मविद्, मुक्त) हो जाता है । अब याज्ञवल्क्य ब्रह्मका उपाधिरहित स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं—

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । (बृह० ३ । ८ । ११)

हे गार्गी ! यह प्रसिद्ध अक्षर किसीको नहीं दीखता पर यह सबको देखता है । इसकी आवाज कानोंसे कोई नहीं सुन सकता परन्तु यह सबकी सुनता है । यह किसीकी धारणामें नहीं आता परन्तु यही सबका मन्ता है । कोई इसे बुद्धिसे नहीं जान सकता परन्तु यही सबका विज्ञाता (जाननेवाला) है । इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । हे गार्गी ! वह अव्याकृत आकाश इसी प्रसिद्ध अक्षर अविनाशी ब्रह्ममें ही ओतप्रोत है ।*

---

* मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
(गीता ७ । ७)

'भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन ! मेरे सिवा किञ्चित् भी दूसरी वस्तु नहीं

महर्षि याज्ञवल्क्यके इस विलक्षण व्याख्यानको सुनकर गार्गी सन्तुष्ट हो गयी और प्रमुदित होकर ब्राह्मणोंसे कहने लगी कि, 'हे पूज्य ब्राह्मणो ! याज्ञवल्क्यको नमस्कार करो । ब्रह्मसम्बन्धी विवादमें इसको कोई भी नहीं हरा सकता । इसका पराजय मनकी कल्पनामें भी नहीं आ सकता।' इतना कहकर गार्गी चुप हो गयी ।

इसके बाद शकलके पुत्र शाकल्य या विदग्धने याज्ञवल्क्यसे कई इधर-उधरके प्रश्न किये । अन्तमें याज्ञवल्क्यने उससे कहा कि अब मैं तुझसे एक बात पूछता हूँ, तू यदि उसका उत्तर नहीं दे सकेगा तो तेरा मस्तक कट जायगा । शाकल्य उत्तर नहीं दे सका और उसका मस्तक धड़से अलग हो गया। याज्ञवल्क्यके ज्ञान और तेजको देखकर सारी सभा चकित हो गयी। तदनन्तर याज्ञवल्क्यने फिर ब्राह्मणोंसे कहा, 'तुम लोगोंमेंसे कोई एक या सब मिलकर मुझसे कुछ पूछना हो तो पूछें' परन्तु किसीने कुछ नहीं पूछा । चारों ओर याज्ञवल्क्यकी जयध्वनि होने लगी । विज्ञानानन्दसे याज्ञवल्क्य और गार्गीका चेहरा चमक रहा था ।

इसी ब्रह्मको यथार्थरूपसे जाननेकी चेष्टा करना और अन्तमें जान लेना मनुष्य-जन्मकी सफलताका एकमात्र प्रमाण है ।

(बृहदारण्यकोपनिषद्के आधारपर)



है, यह सम्पूर्ण जगत् सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें ही गुँथा हुआ है ।' जो भगवान्को इस प्रकार जानता है वही मुक्त होता है ।



सद्गुरुकी शिक्षा

(१४)

सद्‌गुरुकी शिक्षा

वेदका अध्ययन कर चुकनेपर गुरु अपने शिष्यको नीचे लिखे वेद-धर्मोंका उपदेश करते हैं—

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।

(तैत्ति० १ । ११ । १)

सत्य बोलो । धर्मका आचरण करो । स्वाध्यायका कभी त्याग न करो । आचार्यको गुरु-दक्षिणा देकर प्रजाके सूत्रको न काटो अर्थात् ब्रह्मचर्य-आश्रमका पालन कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करो । सत्यका कभी किसी अवस्थामें भी त्याग न करो । धर्मका कभी त्याग न करो । कल्याणकारी कर्मोंका त्याग न करो । साधनकी जो विभूति प्राप्त है, उसे कभी मत त्यागो । स्वाध्याय और प्रवचनमें कभी प्रमाद न करो ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । (तैत्ति० १ । ११ । २)

देवकर्म (यज्ञ) और पितृकर्म (श्राद्ध, तर्पण आदि) का कभी त्याग न करो। माताको देवरूपसे पूजो। पिताको देवरूपसे पूजो। आचार्यको देवरूपसे पूजो। अतिथिको देवरूपसे पूजो। जो कर्म निन्दारहित हैं उन्हींको करो। अन्य (निन्दित कर्म) मत करो। हमारे (गुरुके) श्रेष्ठ आचरणोंका अनुसरण करो, दूसरोंका नहीं।

जो ब्राह्मण अपनेसे श्रेष्ठ हों उन्हें तुरन्त बैठनेके लिये आसन दो। जो कुछ दान करो श्रद्धासे करो, अश्रद्धासे नहीं। श्रीके लिये दान करो, (लक्ष्मी चञ्चल है, प्रभुकी सेवामें उसे समर्पण नहीं करोगे तो वह तुम्हें त्यागकर चली जायगी), लोक-लाजके लिये ही दान करो। शास्त्रसे डरकर भी दान करो, दान करना उचित है इस विवेकसे दान करो। अपने किसी कर्म अथवा लौकिक आचारके सम्बन्धमें मनमें कोई शंका उठे तो, अपने समीप रहनेवाले ब्राह्मणोंमें जो वेदविहित कर्मोंमें विचारशील हों, समदर्शी हों, कुशल हों, स्वतन्त्र हों (किसीके दबावमें आकर व्यवस्था देनेवाले न हों) क्रोधरहित अथवा शान्त स्वभाव हों, और धर्मके लिये ही कर्तव्यपालन करनेवाले हों, वे जिस प्रकारका आचरण करें, उसी प्रकारका आचरण तुम करो। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेदोंका भाव है, यही आज्ञा है, ऊपर बतलायी हुई प्रणालीसे ही आचरण करने चाहिये। इसी प्रकार आचरण करना चाहिये।

(तैत्तिरीय उपनिषद्)





श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकें